संस्कार

संस्कार शब्द **सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय** करने से निष्पन्न होता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - **संस्क्रियते अनेन**, जिससे कोई वस्तु संस्कृत, परिष्कृत, विमल या शुद्ध की जाती है, उसे संस्कार कहते हैं ।[1]

संस्कार शब्द का अर्थ

भारतीय संस्कृति में संस्कारों का अत्यधिक महत्त्व है। मनुष्य की नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये तथा उसमें बल, वीर्य, प्रज्ञा और दैवीय गुणों के आविर्भाव के लिये शास्त्रों में संस्कारों का विधान किया गया है । कोई भी व्यक्ति इन संस्कारों से ही द्विजत्व को प्राप्त करता है। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र ही होता है किन्तु इन संस्कारों के कारण ही वह द्विज की कोटि में आता है **- जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।**[2] संस्कार का अर्थ है दोषों का परिमार्जन । संस्कार मनुष्य के दोषों को परिमार्जित कर उसे धर्म, अर्थ, काम और

---

[1] आप्टे संस्कृत हिन्दी कोष पृ०1051

[2] अत्रि स्मृति

मोक्ष रूप पुरुषार्थों के योग्य बनाते हैं। शबर स्वामी ने संस्कार शब्द का अर्थ बताते हुये कहा है – **संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कश्चिदर्थस्य ।**[3] अर्थात् संस्कार उसे कहते हैं, जिसके सम्पन्न होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य बन जाता है। तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने भी संस्कारों को परिभाषित किया है। उनके अनुसार जो क्रियायें तथा विधियाँ किसी कर्म को योग्यता प्रदान करती हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं - **योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कार इत्युच्यन्ते ।**[4] मेदिनी कोश के अनुसार संस्कार शब्द के तीन अर्थ हैं प्रतियत्न, अनुभव, मानसकर्म । काशिकावृत्ति में **'उत्कर्षाधानं संस्कारः"** कहा गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कारों के माध्यम से समाज अपने जीवन मूल्यों को सुरक्षित रखता है तथा उनके प्रति सदैव निष्ठावान् बना रहता है ।

संस्कार के प्रयोजन

संस्कार हमारे जीवन के विभिन्न पक्षों को आलोकित करता है । हमारे दोषों को दूरकर हमारे अन्तःकरण

---

[3] जैमिनीय शबर भाष्य 3/1/3
[4] तन्त्र वार्तिक पृ०1078

में गुणों का आधान करता है। इस प्रकार दोषमार्जन और गुणाधान करता हुआ संस्कार हमारी कमियों को दूर करता है । कतिपय विद्वान् संस्कारों के दो प्रयोजन मानते हैं 1. दोषापनयन तथा 2. गुणाधान किन्तु विद्वानों का एक वर्ग उसके तीन प्रयोजन मानता है 1. दोषमार्जन, 2. अतिशयाधान तथा 3. हीनांगपूर्ति ।[5] सारांशतः संस्कारों को इस प्रकार समझा जा सकता है जिस प्रकार खान से निकलने के बाद भी कोई रत्न संस्कार के अनन्तर ही तेजस्विता और अपना वास्तविक मूल्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार मानव भी संस्कारों से तेजस्विता आदि प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनाता है । संस्कार हमारे जीवन के अशुभ प्रभावों को दूर करते हैं तथा हमें विभिन्न प्रकार की लौकिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रदान करते हैं ।

संस्कारों के प्रकार

संस्कारों की संख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद है किन्तु उन संस्कारों को अधोलिखित तीन भेदों मे वर्गीकृत किया जा सकता है. -

---

[5]संस्कारप्रकाश, पृ. 13

1. प्राग्जन्म संस्कार-

गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन

2. बाल्यावस्था के संस्कार कर्णवेध-

जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण,

3. शिक्षा सम्बन्धी संस्कार-

विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन ।

4. विवाह संस्कार

5. अन्त्येष्टि संस्कार

विद्वानों ने इन संस्कारों के अन्तर्गत विभिन्न शास्त्रों में कहे गये संस्कारों को परिगणित किया है।

संस्कारों की संख्या

संस्कारों की लोक प्रसिद्ध संख्या यद्यपि सोलह है तथापि शास्त्रों में इसके और भी भेदों की चर्चा है । जातुकर्ण्य ऋषि ने जिन सोलह ब्राह्म संस्कारों का उल्लेख किया है वे निम्नवत् हैं -

आधान - पुंस- सीमन्त-जात - नामान्न - चौलकाः।
मौञ्जी वृतानि गोदान- समावर्त-विवाहकाः ।
अन्त्यं चैतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते षोडशैव तु ।।

जातुकर्ण्य के अनुसार 1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. अन्नप्राशन, 7. चूडाकरण, 8. उपनयन, 9. वेदारम्भ, 10. ब्रह्मव्रत, 11. वेदव्रत, 12. गोदान, 13. समावर्तन 14. विवाह, 15. ब्राह्मव्रत और 16 अन्त्यकर्म, ये षोडश संस्कार हैं ।

आश्वलायनगृह्यसूत्र में कुल दस संस्कार माने गये हैं 1. विवाह 2. गर्भाधान, 3. पुंसवन, 4. सीमन्तोन्नयन, 5. जातकर्म, 6 नामकरण, 7. चूडाकरण, 8. उपनयन, 9. समावर्तन और 10. अन्त्येष्टि ।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि गृह्यसूत्रों में संस्कारों को लेकर मतैक्य नहीं है। अपने-अपने सम्प्रदाय को लेकर सभी गृह्यसूत्रों में संख्या का कथन किया गया है।
बौधायन गृह्यसूत्र में तेरह संस्कार परिगणित हैं 1. विवाह, 2. गर्भाधान, 3. पुंसवन, 4. सीमन्तोन्नयन, 5. जातकर्म, 6. नामकरण, 7. उपनिष्क्रमण, 8. अन्नप्राशन, 9. चूडाकरण, 10. कर्णवेध, 11. उपनयन, 12. समावर्तन और 13. पितृमेध । -

पारस्कर गृह्यसूत्र में भी तेरह संस्कार कहे गये हैं, किन्तु उनका परिगणन बौधायन से कुछ भिन्न है 1. विवाह, 2. गर्भाधान, 3. पुंसवन, 4. सीमन्तोन्नयन, 5. जातकर्म, 6. नामकरण, 7. निष्क्रमण, 8. अन्नप्राशन, 9. चूडाकरण, 10. उपनयन, 11. केशान्त, 12. समावर्तन और 13. अन्त्येष्टि ।

वैखानस में अठारह संस्कार बताये गये हैं। स्मृतियों में भी संस्कारों का विवेचन किया गया है। लोक में सर्वमान्य षोडश संस्कार गर्भाधान आदि हैं। उनका परिगणन निम्नवत् किया जाता है - 1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. चूडाकरण, 9. अक्षरारम्भ, 10 कर्णवेध, 11. उपनयन, 12. वेदारम्भ, 13 केशान्त, 14. समावर्तन, 15. विवाह और 16. अन्त्येष्टि ।

इनमें गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन जन्म से पूर्व के संस्कार हैं। इन संस्कारों का सम्पादन जातक के माता-पिता द्वारा गर्भ की शुद्धि, रक्षा आदि की भावना से किया जाता है। जातकर्म से कर्णवेध तक के संस्कार बाल्यावस्था के संस्कार हैं तथा उपनयन आदि तीन संस्कार शिक्षा से सम्बद्ध हैं। विवाह गृहस्थाश्रम में प्रवेश का संस्कार है तथा अन्त्येष्टि

और्ध्वदैहिक संस्कार है जो पुत्र आदि के द्वारा किया जाता है ।

षोडश संस्कार संक्षिप्त परिचय

गर्भाधान संस्कार

जन्म से पूर्व सम्पन्न होने वाले संस्कारों में यह पहला संस्कार है । जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते हैं - **गर्भः सन्धार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्म नामधेयम्।**[6] वीरमित्रोदयकार इसे और भी स्पष्ट करते हुये कहते हैं -

निषिक्तो यत् प्रयोगेण गर्भः सन्धार्यते स्त्रिया ।
तद् गर्भालम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः । ।

जिस प्रयोग से स्त्री निषिक्त गर्भ को धारण करती है वह कर्म गर्भाधान संस्कार कहलाता है। इस संस्कार के बीज वैदिक काल से ही प्राप्त होते हैं वहाँ देवताओं से वीर पुत्रों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है । धर्मशास्त्रकारों का मत है कि कि गर्भाधान

[6] राजबली पाण्डेय,हिन्दू संस्कार पृ०59

संस्कार तभी किया जाना चाहिये जब पत्नी शारीरिक और मानसिक रूप से उसके लिये तैयार हो । पत्नी के ऋतुस्नान से चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भाधान संस्कार के लिये उचित माना गया है। गोभिल गृह्यसूत्र अशुद्ध रक्त का प्रवाह समाप्त होने के अनन्तर ही गर्भाधान की अनुमति देता है (विरुजा यास्तस्मिन्नेव दिवा)। यह अशुद्ध रक्त प्रवाह प्रायः तीन दिनों तक रहता है, अतः उन दिनों में स्त्री को अपवित्र माना जाता था । इस अवस्था में स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यक्ति को दूषित माना जाता था । वह शुक्र को व्यर्थ करने के कारण ब्रह्म हत्या का दोषी भी माना जाता था

व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात् ।

गर्भाधान के लिये केवल रात्रिकाल ही विहित था । इस संस्कार के लिये दिन का समय निषिद्ध है। इसका वैज्ञानिक कारण दिखाते हुये शास्त्रकारों ने कहा है कि दिन के समय प्राणवायु अधिक गत्मान् होता है। दिन में गर्भाधान करने से अल्पायु, रोगी और शक्तिहीन सन्तति उत्पन्न हो सकती है -

प्राणा वा एते स्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ।
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।।[7]

---

[7] प्रश्नोपनिषद्, 1/13 ।।

रात्रिकाल में गर्भाधान करने वाले पुरुष को ब्रह्मचारी ही माना गया है। शास्त्रकारों ने रात्रि की संख्या के अनुसार सन्तति का लिंग भी निर्धारित किया है उनके अनुसार सम संख्या की रात्रि में गर्भाधान करने से पुरुष सन्तति तथा विषम संख्या की रात्रि में गर्भाधान करने से कन्या सन्तति उत्पन्न होती है। गर्भाधान संस्कार को लेकर शास्त्रों मे विशद विचार हुआ है बहुपत्नीक गृहस्थ के लिये भी विचार किया गया है। महाभारत में नियोग की भी चर्चा है किन्तु स्मृतिकारों ने प्रायः पति को ही गर्भाधान संस्कार का कर्ता माना है ।

पुंसवन संस्कार

यह संस्कार गर्भधारण का निश्चय हो जाने पर किया जाता था । पुंसवन का तात्पर्य उस पूजा या अनुष्ठान से है जिसके करने से पुरुष सन्तति का जन्म होता था - पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमितीरितम् । उस समय समाज में पुत्र का अधिक महत्त्व था, अतः पुत्र का जन्म देने वाली माता भी समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करती थी। पुंसवन संस्कार के अवसर पर गाये जाने वाले मन्त्रों में भी पुत्र का ही उल्लेख होता था । वैदिक साहित्य में

पुरुष सन्तति की प्राप्ति के लिये अनेक प्रार्थनायें प्राप्त होती हैं। अथर्ववेद में एक प्रसंग में पति-पत्नी के पास जाकर प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार धनुष पर बाण का सन्धान किया जाता है उसी प्रकार तेरे गर्भाशय में पुत्र उत्पन्न करने वाले गर्भ का आधान हो-

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननुजायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जतानां जनयाश्च यान्।।[8]

गर्भधारण के दूसरे या तीसरे महीने अथवा गर्भ का लक्षण व्यक्त होने पर पुंसवन संस्कार करने का विधान है। शौनक का मत है कि यदि तीसरे महीने में गर्भ के लक्षण व्यक्त हो जायें तो तीसरे में अन्यथा चौथे महीने में पुंसवन संस्कार करना चाहिये -

व्यक्त गर्भे तृतीये तु मासे पुंसवनं भवेत् ।
गर्भेऽव्यक्ततृतीये चेच्चतुर्थे मासि वा भवेत् ।।

कतिपय आचार्य दूसरे मास से आठवें मास तक पुंसवन संस्कार करने की अनुमति देते हैं। इसमें पारिवारिक प्रथायें, कुल के आचार आदि को भी ध्यान में रखा गया है। शौनक के अनुसार इस संस्कार को प्रत्येक गर्भ में करना चाहिये क्योंकि इस संस्कार के समय स्पर्श करने तथा औषधियों के

---

[8] **अथर्ववेद 3/23/3।।**

सेवन से गर्भ पवित्र वा शुद्ध होता है। इस संस्कार में दी जाने वाली औषधियों का भी उल्लेख धर्मशास्त्रकारों ने किया है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार

प्राग्जन्म संस्कारों में यह अन्तिम संस्कार है । इस संस्कार में गर्भिणी के सीमन्त को ऊपर उठाया जाता है, इसलिये इसे सीमन्तोन्नयन कहते हैं- सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयन्म् । इस संस्कार के सम्पादन का मुख्य प्रयोजन दुष्ट शक्तियों से गर्भ की रक्षा था । यह माना जाता है कि रुधिर भक्षण करने वाली दुष्ट राक्षसियाँ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिये आती हैं, इसलिये पति को चाहिये कि वह उनको दूर करने के लिये इस संस्कार के माध्यम से श्री का आवाहन करे । इससे जिन स्त्रियों की रक्षा कर दी जाती है, उसे ये राक्षसियाँ हानि नहीं पहुँचा सकतीं -

पत्न्याः प्रथमजं गर्भमत्तुकामाः सुदुर्भगाः ।
आयान्ति काश्चिद् राक्षस्यो रुधिरासनतत्पराः ।।
तासां निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत् पतिः ।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तामावहति मन्त्रतः ।।

यह मनोवैज्ञनिक संस्कार था । गर्भ के पाँचवें महीने

में गर्भस्थ शिशु का मानसिक निर्माण आरम्भ हो जाता है। सीमन्तोन्नयन से गर्भिणी प्रसन्न रहती है जिसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ता है। इस संस्कार को सम्पन्न करता हुआ पति गर्भिणी को सुन्दर शब्दों से सम्बोधित करता है जिससे उसका प्रसन्न होना स्वाभाविक है। स्वयं पति गर्भिणी के केशों को सजाता सँवारता है, यह भी गर्भिणी की प्रसन्नता का कारण बनता है। शास्त्रों में इस संस्कार को सम्पन्न करने का समय छठाँ या अठवाँ महीना माना गया है किन्तु कतिपय अचार्य जन्म से पूर्व कभी भी करने की अनुमति देते हैं ।

जातकर्म संस्कार

यह बाल्यावस्था में सम्पन्न होने वाला प्रथम संस्कार है। इस संस्कार के अन्तर्गत अनेक कर्म विहित हैं जिनमें मेधाजनन, आयुष्य, बल तथा नालच्छेदन प्रमुख हैं। शास्त्रों के अनुसार नालच्छेदन से पूर्व मेधाजनन संस्कार करना चाहिये। यह कर्म बालक को मेधावी बनता है। किसी सुवर्णादि के पात्र में मधु और घृत को मिलाकर सुवर्ण की शलाका से या अनामिका से बालक को चटाना चाहिये। इससे उसकी मेधा शक्ति में वृद्धि होती है । तदनन्तर सद्योजात शिशु का पिता आयुष्यकरण कर्म सम्पादित

करे, इससे बालक दीर्घायु होता है। शिशु के बल और स्वास्थ्य के लिये उसका पिता उसका अभिमर्शन करता हुआ उसकी शारीरिक दृढता के लिये प्रार्थना करता है तथा उसकी माता के लिये कल्याण की कामना करता है । जिस स्थल में बालक का जन्म हुआ है, पिता को चाहिये कि वह उसकी भी पूजा करे। माता के स्तनों का प्रक्षालन कर शिशु को दुग्धपान कराये। सूतिका के गृहद्वार पर जल से भरे घड़े के तथा अग्नि का स्थापन करके जातक का पिता उसकी अनिष्ट की शान्ति हेतु प्रार्थना करे तदनन्तर आठ अँगुल छोड़कर नालच्छेद करना चाहिये । नालच्छेद की विधि पूर्णत साँस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आश्रित है। यह माना जाता है कि नाल काटने के अनन्तर जन्म अशौच प्रारम्भ हो जाता है, अतः उससे पूर्व मेधाजनन आदि कर्म सम्पन्न कर लेना चाहिये। यह जननाशौच भी दस दिनों तक माना जाता है।

शिशु के जन्म के छठें दिन षष्ठी महोत्सव का भी विधान शास्त्रों मे किया गया है। देवीभागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में षष्ठी को बालकों की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है । यह कर्म भी जातकर्म के अन्तर्गत विहित है। यह विश्वास है कि षष्ठी देवी

वृद्धमात के रूप में सदैव शिशु की रक्षा करती है ।

नामकरण संस्कार

नाम से मनुष्य के समस्त व्यवहार चलते हैं वह नाम से ही जाना पहचाना जाता है तथा उसके द्वारा किये जाने वाले समस्त शुभ कार्यों में भी नाम की ही हेतुता होती है । नाम से ही मनुष्य यश प्राप्त करता है, इसलिये शास्त्रकारों ने नामकरण संस्कार को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। वीरमित्रोदय में एक श्लोक उद्धृत किया गया है -

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः । नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म ।।[9]

इसका तात्पर्य यही है कि नाम ही मनुष्य के समस्त व्यवहार का कारण है । केवल लौकिक कार्य ही नाम से सम्पादित नहीं होते, अपितु आध्यात्मिक फल की इच्छा से किये जाने वाले यज्ञ आदि में भी नाम की भूमिका होती है, इसलिये नामकरण समस्त संस्कारों में प्रमुख है। यह संस्कार अतिप्राचीन काल से सम्पादित होता रहा है। वेदों तथा वैदिक साहित्य में अनेक ऋषियों तथा राजाओं आदि के नाम प्राप्त होते हैं, इससे यह स्वयं निश्चित हो जाता है कि

[9] **वीरमित्रोदय भाग1 संस्कर प्रकाश**

नामकरण की परम्परा उस समय विद्यमान थी । श्रुति कहती है - दशमे अहनि पिता नाम कुर्यात्, जन्म के दसवें दिन पिता नामकरण संस्कार करे । पारस्कर गृह्यसूत्र में यह निर्णय लिया गया है कि नाम दो अथवा चार अक्षरों का होना चाहिये। नाम व्यंजन से आरम्भ होना चाहिये, इसमें अर्धस्वर भी हो, नाम के अन्त में दीर्घ स्वर अथवा विसर्ग आना चाहिये। कृत् प्रत्यय से युक्त नाम रखने की अनुमति है किन्तु तद्धित प्रत्यय वाले नाम वर्जित हैं । वैजवाप गृह्यसूत्र में नाम के अक्षरों की संख्या के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं दिया गया । वहाँ कहा गया है कि नाम एकाक्षर, द्वयक्षर या अपरिमिताक्षर हो सकता है पिता नाम करोति एकाक्षरं द्वयक्षरं त्रयक्षरम् अपरिमिताक्षरं वा । वशिष्ठ दो या चार अक्षरों का नाम रखने की ही अनुमति देते हैं । वशिष्ठ रेफान्त तथा लकारान्त नाम न रखने की मन्त्रणा देते हैं -

तद् द्वयक्षरं चतुरक्षरं वा विवर्जयेद् अन्त्यलकाररेफम् ।[10]

आश्वलायन आदि में नामों की अक्षर संख्या के साथ कुछ गुणों का योग कर दिया है। जैसे प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति के इच्छुक व्यक्ति को दो अक्षरों का

---

[10]**वशिष्ठ स्मृति**

नाम रखना चाहिये आदि-
द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः।[11]

शास्त्रों में केवल पुरुष सन्तति के नामकरण को लेकर विचार नहीं किया गया, बालिकाओं के नामकरण पर भी विचार हुआ है। बालिकाओं के नाम में अक्षरसंख्या विषम हो तथा वह नाम आकारान्त होना चाहिये । बालिका के नाम में तद्धित का प्रयोग अच्छा माना गया है । बलिकाओं के नाम पर शास्त्रकारों ने विशद विचार किया है तथा कहा है कि स्त्री जातक के नाम को उच्चारण में सुखकर, सरल, कोमल, श्रुति मधुर, मंगलसूचक तथा दीर्घान्त होना चाहिये ।

वर्णों के अनुसार भी नामकरण करने की बात पर शास्त्रों में विचार हुआ है। सारांशतः आचार्यों ने चार प्रकार के नाम बताये हैं। जन्म मास के देवता, कुलदेवता तथा लोकप्रचलित सम्बोधन के अनुसार इन नामों की व्यवस्था दी गयी है । यह संस्कार जन्म के दसवें या बारहवें दिन किया जाता है। कुछ आचार्य जन्म के दसवें दिन से दूसरे वर्ष के प्रथम दिन तक नामकरण करने का विधान करते हैं । इस विषय में अन्य और भी मत प्राप्त होते हैं किन्तु

[11]आश्वलायन. 1 / 15 / 5)।

दसवें दिन जननाशौच के समाप्त होने पर अथवा अपनी कुल परम्परा के अनुरूप नामकरण करना सर्वोत्तम माना गया है।

निष्क्रमण संस्कार

यह संस्कार जन्म के बाद पहली बार शिशु को घर से बाहर लाने से सम्बद्ध है। बृहस्पति ने इस संस्कार का तात्पर्य बताते हुये कहा है -अथ निष्क्रमणं नाम गृहात् प्रथमनिर्गमः । शिशु के घर से प्रथम बार निर्गम को निष्क्रमण कहते हैं । पारस्कर के अनुसार यह संस्कार जन्म के चौथे महीने किया जाना चाहिये -

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका, सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ।

भविष्योत्तर पुराण में जन्म के बारहवें दिन ही सम्पन्न करने की बात कही गयी है- **द्वादशेऽहनि राजेन्द्र शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्** । कुछ आचार्य जन्म से तीसरे महीने भी करने की विधि बताते हैं-

ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ।
चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम् ।।

इस संस्कार में जन्म के बाद पहली बार घर से निकलने पर शिशु को सूर्य का दर्शन कराया जाता

है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह संस्कार सूतिका गृह से शिशु के प्रथम बार बाहर निकलने पर किया जाता है जो जन्म के बारहवें दिन सम्पन्न होता है। कतिपय आचार्यों के अनुसार शिशु को तीसरे माह सूर्य के तथा चौथे महीने चन्द्र के दर्शन कराना चाहिये । गृह्यसूत्रों में इस संस्कार को सम्पन्न करने का अधिकार माता-पिता को ही दिया गया है किन्तु पुराण तथा ज्योतिष ग्रन्थों के अनुसार जातक का मामा इस संस्कार को करने के लिये अधिकृत है। इसके सम्पादन के विस्तृत विधि-विधान भी प्राप्त होते हैं।

अन्नप्राशन संस्कार

छः या सात मास बाद जातक के शरीर का विकास हो जाने पर उसे भोजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। वह इससे पूर्व केवल माता के दूध पर ही अश्रित रहता था। इस अवस्था में शिशु को प्रथम बार अन्न का प्राशन कराया जाता है, यह संस्कार ही अन्नप्राशन कहलाता है। इस संस्कार को करने का सर्वोत्तम समय जन्म के बाद छठाँ महीना माना गया है किन्तु आठवें, नौवें या दसवें माह में भी इसे किया जा सकता है -

जन्मतो मासि षष्ठे वा सौरेणोत्तममन्नदन्नम् ।

तदभावेऽष्टमे मासे नवमे दशमेऽपि वा ।।

इस संस्कार के समय शिशु को विभिन्न स्वादों से युक्त भोजन का मिश्रण कर चखने के लिये देना चाहिये । कतिपय आचार्य इस अवसर पर मधु और घृत का मिश्रण देने की भी विधि बताते हैं । मार्कण्डेय पुराण मधु और घी के साथ खीर खिलाने की विधि बताता है। सम्भवतः इसी करण लोक में दूध भात खिलाने की परम्परा चल पड़ी। अन्नप्राशन से सम्बद्ध कर्मकाण्ड का उल्लेख भी किया गया है। यह कर्मकाण्ड विधि सम्बन्धित ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है ।

चूडाकरण संस्कार

चूडाकरण संस्कार जातक की दीर्घायु, सुन्दरता तथा कल्याण की कामना से किया जाता है। शास्त्रों के अनुसार चूडाकरण से जातक को दीर्घायु की प्राप्ति होती है तथा इस संस्कार को सम्पन्न न करने से उसकी आयु का ह्रास होता है । आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है- तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये । आयुर्वेद के अनुसार भी यह संस्कार महत्त्वपूर्ण है । चरक का कथन है कि केश आदि के काटने से आयु, शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है । चूडाकरण के समय केश काटकर किसी

देवता को समर्पित किये जाते हैं।
इस संस्कार को जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त से लेकर तृतीय वर्ष की समाप्ति तक सम्पन्न करने का विधान। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार इसे जन्म से तीसरे या पाँचवे वर्ष में किया जा सकता है। आवश्यक होने पर इसे सातवें वर्ष में या उपनयन के साथ भी किया जा सकता है-

तृतीये पञ्चमे वाऽब्दे चौलकर्म प्रशस्यते ।
प्राग्वाऽसमे सप्तमे वा सहोपनयनेन वा । ।

अत्रि ने वर्ष के अनुसार इस संस्कार का फल कथन किया है। प्रथम वर्ष में चूडाकरण करने से जातक दीर्घ आयु तथा ब्रह्मवर्चस प्राप्त करता है। तृतीय वर्ष में इस संस्कार के करने से जातक की समस्त मनोकामनायें पूर्ण होती हैं। जो व्यक्ति पशुधन की कामना रखता हो उसे पाँचवें वर्ष में चूडाकर्म करना चाहिये -

तृतीये वर्षे चौले तु सर्वकामार्थसाधनम् ।
संवत्सरे तु चौलेन आयुष्यं ब्रह्मवर्चसम् ।।
पञ्चमे पशुकामस्य युग्मे वर्षे तु गर्हितम् ।।

युग्म और सम वर्षों मे यह संस्कार नहीं करना चाहिये । तृतीय वर्ष में इस संस्कार का सम्पादन सर्वोत्तम माना गया है। आजकल लोग अपनी कुल परम्परा के अनुसार भी चूडाकरण करते हैं। उनमें

भी शास्त्रीय निर्देशों का सन्निवेश देखा जाता है। शास्त्र में शिशु की माता के गर्भिणी होने पर यह संस्कार वर्जित है । अपनी कुल परम्परा के अनुसार इसमें शिखा आदि रखना चाहिये । शास्त्र शिखा कटवाने की अनुमति नहीं देता । ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

कर्णवेध संस्कार

यह संस्कार सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य से सम्बद्ध है । सुश्रुत के अनुसार रोगों से रक्षा तथा आभूषणों के निमित्त जातक का कर्णवेध करना चाहिये **रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येत्** ।[12]
सुश्रुत अण्डकोश वृद्धि तथा आँतो की वृद्धि को रोकने के लिये कर्णवेध को आवश्यक मानते हैं । इसके सम्पादन का समय भी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट है। बृहस्पति इसे जन्म से दसवें, बारहवें या सोलहवें दिन करने का विधान करते हैं। गर्ग के अनुसार इसे जन्म से छठें, सातवें, आठवें या बारहवें महीने में किया जाना चाहिये। कुछ आचार्य इसे शिशु के दाँत निकलने से पूर्व करने की विधि बताते हैं। आचार्यों ने कर्णवेध की सुई पर भी विचार किया है । कर्णवेध के लिये स्वर्ण निर्मित सुई उत्तम मानी गयी

[12] **शरीर स्थान, 16 / 1**

है किन्तु अपने सामर्थ्य के अनुसार चाँदी अथवा लोहे से निर्मित सुई का भी उपयोग किया जा सकता है। इस संस्कार को किसी शुभ दिन में सम्पन्न करना चाहिये।

विद्यारम्भ संस्कार

यह शिक्षा से सम्बद्ध संस्कार है। इस संस्कार को पाँचवे या सातवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता था। सूर्य के उत्तरायण होने पर किसी भी शुभ दिन इस संस्कार को सम्पन्न किया जाता था। बालक को स्नान के अनन्तर सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित करके उससे गणेश, सरस्वती तथा बृहस्पति आदि की पूजा करायी जाती थी । तदनन्तर गुरू बालक से अक्षरारम्भ कराता था ।
विशेष प्रकार की कलम या स्वर्णनिर्मित कलम से बालक फलक पर या चावल पर श्री गणेशाय नमः, सरस्वत्यै नमः" आदि शुभ वाक्य लिखता था । फलक चाँदी या काष्ठ से निर्मित होता था । इस संस्कार को अक्षरारम्भ भी कहते हैं।

उपनयन संस्कार

यह प्राचीनतम संस्कार है तथा शिक्षा से सम्बद्ध है। वैदिक काल में ही इस संस्कार का प्रारम्भ हो चुका

था । प्राचीन काल में शिक्षा गुरुकुल में होती थी । ब्रह्मचारी शिक्षा के लिये गुरुकुल में ही निवास करता था। बालक के इस आश्रम को ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे जो लगभग बारह वर्ष की उम्र से चौबीस वर्ष की उम्र तक होता था । भारुचि के अनुसार उपनयन का अर्थ है "ब्रह्मचारी को शिक्षा के लिये गुरु के पास ले जाना ", उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणम् उपनयनम् । कतिपय आचार्य इस संस्कार को अत्यन्त व्यापक मानते हैं। जिस संस्कार के द्वारा बलक को गुरू, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता के सामीप्य के लिये दीक्षा दी जाती थी, वह उपनयन है–

गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च ।
देवतानां समीपं वा येनासौ नीयते द्विजः ।।

आचार्य का चयन करने के बाद एक मण्डप में समस्त विधि-विधान किये जाते थे। गणेश आदि देवताओं की पूजा के अनन्तर उपनयन की पूर्वरात्रि को बालक के शरीर में हल्दी के द्रव का लेप किया जाता था । उसकी शिखा में चाँदी की अंगूठी बाँध दी ती थी। उस रात बालक पूर्णतः मौन रहता था । यह विधि उसके द्वितीय जन्म की प्रतीक थी। हल्दी का लेप गर्भ का वातावरण प्रस्तुत करता था तथा पूर्ण मौन उसके भ्रूणत्व का प्रतीक था । आचार्य ने

ब्रह्मचारी को पुनः जन्म प्रदान किया है। दूसरे दिन माता-पिता तथा पुत्र एकसाथ भोजन करते थे । भोजन के पश्चात् बालक को मण्डप में ले जाया जाता था, वहाँ मुण्डन के पश्चात् उसे स्नान कराया जाता था। तदनन्तर कौपीन धारणकर बालक अपने आचार्य के पास जाता था और उससे ब्रह्मचारी बनने की इच्छा व्यक्त करता था । आचार्य उसे उत्तरीय प्रदान करते हुये उसे ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार करता था ।

आचार्य ब्रह्मचारी को मेखला, यज्ञोपवीत, अजिन तथा दण्ड आदि प्रदान करता था तथा अन्य अनेक कर्मकाण्ड सम्पन्न कराने के बाद उसे सावित्री मन्त्र का उपदेश देता था। ब्रह्मचारी त्रिरात्रव्रत सम्पन्न करने के अनन्तर भूमि में शयन करता था, इस क्रिया से उसमें मेधाजनन की विधि सम्पन्न की जाती थी । शास्त्रों में उपनयन संस्कार की विधि अतिविस्तार से बतायी गयी है । गुरुकुल में ब्रह्मचारियों का जीवन भिक्षाटन पर आश्रित होता था । शिक्षा के समय ब्रह्मचारी समाज पर आश्रित होता था । यह संस्कार आठ वर्ष की आयु में या उसके बाद किया जाता था ।

वेदारम्भ संस्कार

इस संस्कार का प्रथम उल्लेख व्यासस्मृति में प्राप्त होता है । यह संस्कार वेदारम्भ के लिये विहित था । इसे वेदारम्भ के लिये स्वतन्त्र संस्कार के रूप में मान्यता दी गयी । उपनयन के पश्चात् किसी शुभ दिन में वेदारम्भ संस्कार किया जाता था तथा अलग-अलग वेद के अध्येता के लिये अलग-अलग विधियाँ सम्पन्न करायी जाती थीं । इस संस्कार के सम्पन्न होने के अनन्तर आचार्य ब्रह्मचारी को वेद का अध्ययन कराना आरम्भ करता था ।

केशान्त संस्कार

यह संस्कार गोदान के नाम से भी जाना जाता है। इस संस्कार में ब्रह्मचारी के श्मश्रुओं का सर्वप्रथम मुण्डन किया जाता था। इस अवसर पर आचार्य को गोदान भी किया जाता था इसलिये इसे गोदान भी कहते हैं। यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न किया जाता था । इस आयु तक ब्रह्मचारी युवावस्था को प्राप्त कर रहा होता था, अतः इस संस्कार के माध्यम से उसे एकबार पुनः ब्रह्मचर्य के व्रतों का स्मरण दिलाया जाता था ।

समावर्तन संस्कार

ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर यह संस्कार सम्पादित किया जाता था । इसको स्नान के नाम से भी जाना जाता है । शिक्षा की समाप्ति होने पर ब्रह्मचारी के गुरुकुल से अपने घर के लिये प्रत्यावर्तन हेतु यह संस्कार किया जाता था **तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनानन्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम्।** समावर्तन संस्कार उन्हीं स्नातकों का होता था जो अपने अध्ययन की समाप्ति कर लेते थे तथा समस्त दीक्षित व्रतों का पालन कर चुकते थे। समावर्तन से पूर्व ब्रह्मचारी को गुरू से अनुमति लेनी आवश्यक थी। विद्यार्थी अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरू को दक्षिणा भी प्रदान करता था तथा गुरू की अनुमति से अपने घर आकर वह सवर्ण, सुलक्षणा कन्या से विवाह सम्पन्न करता था –

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् । ।

विवाह संस्कार

यह सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। यह समस्त आश्रमों का मूल है तथा समस्त गृहयज्ञों एवं संस्कारों का उद्गम स्थल है। विवाह स्वयं एक यज्ञ है। पत्नीरहित व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है - अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। विवाह

अतिप्राचीन संस्कार है। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विवाह उस समय भी दृढ संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। स्मृतियों में विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं-

ब्राह्मो देवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये आठ प्रकार के विवाह हैं। इन विवाहों को प्रशस्त तथा अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का माना गया है। ब्रह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य प्रशस्त विवाह हैं तथा शेष चार अप्रशस्त माने गये हैं । ब्राह्म विवाह का शुद्धतम तथा सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रकार है। इसमें कन्या का पिता वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या को वर को दान करता है । दैव विवाह में कन्या का पिता अपने यज्ञ में पौरोहित्य करने वाले ऋत्विज् को दक्षिणा के रूप में कन्या प्रदान करता था। प्राजापत्य में पिता अपनी कन्या का विवाह उस वर से कर देता था जो स्वयं विवाह के प्रार्थी के रूप में उपस्थित होता था । उन्हें सहधर्मचरण का आदेश भी दिया जाता था। आसुर विवाह में वर कन्या के पिता या सम्बन्धियों को धन प्रदान कर स्वच्छन्दतापूर्वक विवाह करता था । गान्धर्व विवाह का वह प्रकार है जिसमें पुरुष और

स्त्री परस्पर निर्णय लेकर विवाह करते हैं। जिस विवाह में पुरुष कन्या के सम्बन्धियों को मारकर रोती बिलखती कन्या को बलात् उठा ले जाता था तथा उससे विवाह करता था, विवाह का वह प्रकार राक्षस कहलाता था । जिस विवाह में वर छल, कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार करता था उसे पिशाच कहते हैं । पिशाच सबसे अधम विवाह माना गया है।

इनके अतिरिक्त भी विवाह के अनेक प्रकार प्राचीन काल में प्रचलित थे किन्तु धर्मशास्त्रियों ने उनका उल्लेख नहीं किया। सवर्ण विवाह, अनुलोम विवाह, प्रतिलोम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि का अस्तित्व भी भारत में प्राचीन काल से था, जिन पर अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है। विवाह की आयु ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही मानी जाती थी किन्तु कालान्तर में यह मान्यता समाप्त होती दिखायी पड़ती है। स्मृतियों तक आते-आते बालविवाह की परम्परा दृष्टिगत होने लगती है।

अन्त्येष्टि संस्कार

यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अन्त्येष्टि का विवरण प्राप्त होता है। किसी शिशु या किशोर की मृत्यु होने पर उसका

दाह नहीं किया जाता था । अथर्ववेद में अन्त्येष्टि से पहले शव को स्नान कराने, उसे बैलगाड़ी से श्मशान भूमि ले जाने आदि का वर्णन है। ऋग्वेद में अस्थि संग्रह करने तथा अन्त्येष्टि स्थल में स्मारक बनाने का भी उल्लेख हुआ है।

धर्मशास्त्र में अन्त्येष्टि तथा अशौच का विशद वर्णन हुआ है। अस्थिसंचयन, शान्तिकर्म, पिण्डदान, शान्ति आदि पर धर्मशास्त्रियों तथा सूत्रकारों ने विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुये अनेक निर्णय दिये हैं ।

संस्कारों का प्रयोजन

1.व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास हेतु

अङ्गिरा व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कारों की भूमिका को स्वीकारते हुए चित्रकर्म सुन्दर दृष्टांत देते हुए कहते हैं -

चित्रकर्मयथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम् ।।

अर्थात् जिस प्रकार विविध रंगों के द्वारा धीरे-धीरे चित्रकारी खिलती है (चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध रंग अपेक्षित होते हैं), उसी प्रकार ब्राह्मण्य (चरित्र-निर्माण) विधि - पूर्वक किए गए विभिन्न संस्कारों के द्वारा क्रमशः खिलता (प्रकाशित होता) है।

इसलिए सनातन-धर्म में व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माण को मात्र प्रकृति, नियति एवं काल के वशीभूत न छोड़ते हुए उसके विवेकपूर्णविकास की एक सुचिन्तित, सुव्यवस्थित, सुनियोजित एवं परिणामदायिनी व्यवस्था की परिकल्पना (संस्कारों के माध्यम से) की गयी। फलतः मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण विकास करना संस्कारों का मूल-प्रयोजन कहा जा सकता है जिसके लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, सन्यास और वानप्रस्थ इन चारो आश्रमों (जीवन के अलग-अलग पड़ाव पर) में विविध संस्कारों के विधान की व्यवस्था सनातन परम्परा में की गयी है । ब्रह्मचर्य आश्रम में नामकरण, मुंडन, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ आदि संस्कार व्यक्ति को दोषों, विकारों से दूर करके बौद्धिक - विकास की यात्रा में अग्रसर करने के सर्वोत्तम प्रयास माने जा सकते हैं।

सबसे अधिक संख्या में संस्कार इसी आश्रम में संपन्न किये जाते हैं क्योंकि जीवन की आधार -शिला इसी आश्रम पर टिकी है व यह प्रारम्भिक अवस्था ही संस्कारों के पालनार्थ सर्वाधिक अनुकूल होती है। इस आश्रम के बाद मनुष्य के कुछ अच्छे या बुरे अभ्यास दृढ हो जाते हैं अतः अधिक संस्कार इस अवस्था में उसी प्रकार निष्फल सिद्ध होते हैं जैसे पक्के घड़े में। जब तक घड़ा कच्चा है आप उसे ठोंक -पीटकर, सहारा देकर यथेष्ट आकार दे सकते हैं किन्तु एक बार यदि वह आग में पक गया तो फिर यथेष्ट आकार नहीं दिया जा सकता है, अन्यथा वह टूट जाएगा ।

एक बार जब ब्रह्मचारी, बौद्धिक एवं शारीरिक व्यायामों के द्वारा विचारों और शारीरिक बल में संतुलन साधना सीख जाता है, एवं ब्रह्मचर्याश्रम में अर्जित ज्ञान और विकसित बुद्धि के द्वारा, अपेक्षाकृत क्लिष्ट भावी जीवन-पथ आलोकित हो जाता है तो फिर गृहस्थ आश्रम के विवाह, गर्भाधान, जातकर्म आदि संस्कारों के द्वारा वह समाज से जुड़ने और पति, पत्नी, पिता, माता, पुत्र, भाई, मित्र आदि के रूप में आदर्श स्थापित करने का प्रयास

करने के योग्य हो जाता है। चूंकि गृहस्थ आश्रम के समाप्त होते-होते, १५ संस्कारों के द्वारा, मनुष्य सुसंस्कृत हो चुका होता है इसलिए उसको अन्य संस्कारों की आवश्यकता नहीं पड़ती है, जब तक कि वह आध्यात्म के मार्ग में अग्रसर न होना चाहता हो (ऐसे में १६ ब्राह्म संस्कारों से भिन्न दैव संस्कारों की भी आवश्यकता होती है) । यही कारण है कि अन्तिम १६ वाँ संस्कार (अन्त्येष्टि), जीवन की समाप्ति पर सम्पन्न किया जाता है।

अशुभत्व के नाश हेतु

संस्कारों के माध्यम से अशुभत्व का नाश होता है । वह कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि अशुभत्व का नाश हेतु कुछ चरणबद्ध विधियां हैं। प्रथम चरण में पहली विधि अपनाई जाती है। इस विधि के अनुसार कुछ अवसरों पर भूत आदि जो अशुभ - शक्तियां हैं, उनको बली देकर सन्तुष्ट किया जाता है, जिससे वह किसी प्रकार की क्षति पहुंचाए बिना वहां से लौट जाएं। शिशु से दूर करने हेतु भूतादिशक्तियों को बलि-प्रदान करते हुए आचार्यगदाधर कहते हैं -

ततस्तुष्ट तुष्ट एनं एनं कुमारं मुञ्च इति ।

कुछ अवसरों पर विघ्नकर्ता गणेश जी की अथवा देवी की उपासना की जाती है । उदाहरण के तौर पर, जब गर्भ में शिशु होता है तो उस समय कुछ अशुभ शक्तियां गर्भ के नाश हेतु उपस्थित होती हैं जिनके अपनयन हेतु माता लक्ष्मी का आवाहन किया जाता है। अश्वलायन कहते हैं -

पत्न्याः प्रथमजं गर्भमत्तुकामाः सुदुर्भगाः ।
आयान्ति काश्चित् राक्षस्यो रुधिराशनतत्पराः ।।
तासां निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत् पतिः ।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तासामावहति मन्त्रतः । ।

पत्न्याः प्रथमजं गर्भम् = पत्नी के प्रथम गर्भ (के समय) उसको, अत्तुकामाः खाने की इच्छा रखने वाली, काश्चित् सुदुर्भगाः राक्षस्यो कुछ दुर्भाग्य देने वाली राक्षसियां (नकारात्मक-ऊर्जा), रुधिराशनतत्पराः, जो कि खून पीने को लालायित रहती हैं, आयान्ति = वह (गर्भ - भक्षण की इच्छा से) आते हैं, तासां निरसनार्थाय = उन राक्षसियों को दूर भागने (हटाने) के लिए पतिः = उस सौभाग्यवती गर्भिणी

स्त्री का पति, श्रियमावाहयेत् = श्री अर्थात् माता लक्ष्मी का आवाहन करे, सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तासाम् = उस सीमंत को करने वाली अर्थात् सौभाग्य को देने वाली उन देवी लक्ष्मी को, मन्त्रतः = मन्त्रपूर्वक, आवहति = वह पति बुलाता है । अतः सीमन्तोन्नयन में देवी की आराधना अशुभत्वकी निवृत्ति हेतु की जाती है।

कुछ कर्मों में उपरिलिखितविधि पर्याप्त नहीं मानी जाती है इसलिए दूसरी विधि अपनाई जाती है। उसके अनुसार कुछ संस्कारों में, अशुभत्व के निवारण हेतु गुप्त-रीति अपनाई जाती है। जैसे मुंडन के अवसर पर काटे हुए केशों को गाय के गोबर के पिण्ड के साथ मिलाकर गोष्ठ में गाड़ दिया जाता है अथवा नदी में फेंक दिया जाता है ताकि अशुभ - शक्तियां उसका दुरुपयोग न कर सकें ।

कभी-कभी अशुभत्व के निवारण हेतु पहले प्रतिकृति (या प्रतिरूप) से संस्कार सम्पन्न किया जाता है अनन्तर मुख्य संस्कार किया जाता है। उदाहरण के लिए कन्या के अशुभत्व के निवारण हेतु 'घट - विवाह' किया जाता है। यदि अशुभ-मुहूर्त में यात्रा

करना अत्यावश्यक हो तो अशुभ के निवारण हेतु पहले यात्रामुहूर्त में 'प्रस्थान' निकाल दिया जाता है।

शुभत्व हेतु

जीवन में शुभता आए इसके लिए संस्कारों की महती आवश्यकता है। इसलिए शुभत्व का आधान भी संस्कारों का प्रमुख प्रयोजन रहा है। सकारात्मकता का भाव उत्पन्न होना ही शुभता है। यद्यपि सकारात्मकता आतंरिक भाव है, जिसका सम्बन्ध हमारी चेतना से है लेकिन उस अन्तर्निहित चेतना से सम्बन्ध स्थापति कर लेना सबके बस की बात नहीं। इसलिए सर्व साधारण के लिए यह सकारात्मकता, तदनुकूल ऊर्जा के संवाहक देवताओं की समर्चना व आराधना से ही संभव है। अलग-अलग संस्कारों के लिए अलग–अलग देवताओं की प्रधानता है, जिनकी आराधना शुभता का आगमन करती है। अतः जीवन में शुभत्व, समृद्धि और मंगल का प्रवेश हो इसके लिए संस्कारों के अनुष्ठान में ग्रहों, देवताओं, दिक्पालों, पञ्च महाभूतों आदि का आवाहन, एवं यथायोग्य पूजन-अर्चन आदि किया जाता है। आचार्य मनु कहते हैं --

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्दिवजन्मनाम् ।
कार्य शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।।
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनं द्विजानामपमृज्यते ।।[13]

अर्थात् गार्भ–होम (गर्भाधान के अवसर पर किया जाने वाला होम), जातकर्म, चूडाकर्म (मुंडन) और उपनयन संस्कारों के वैदिक - रीत्या अनुष्ठान से द्विजों के गर्भ तथा बीज – सम्बन्धी विकार दूर हो जाते हैं और इहलोक व परलोक दोनों पवित्र हो जाते हैं।

परम - पुरुषार्थ की प्राप्ति हेतु

सनातन-मान्यता के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गए हैं। और जैसा कि आप जानते ही हैं व इस अध्याय में भी पूर्व में उल्लेख किया गया है कि इन पुरुषार्थों के साधन हेतु चार आश्रमों की व्यवस्था भी की गयी है ।

[13] (मनुस्मृति, २/२६–२७)

यह अन्तिम लक्ष्य या परम - पुरुषार्थ मोक्ष ही है जो सनातन - विचारधारा को अन्य सभी परम्परावादी विचारधाराओं से पृथक् और सिरमौर बनाता है। इसके अनुसार चाहे विद्या, बल एवं वित्त का अर्जन धर्मानुकूल होना चाहिए और धर्म क्या है इसको भी परिभाषित किया -

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्म इति ।

अर्थात् जिस कर्म या अनुष्ठान से इहलोक और परलोक दोनों में कल्याण की प्राप्ति हो वही धर्म है। और यह संभव है संस्कारों के द्वारा। क्योंकि इनमें सदैव ही ऐहिक व पारलौकिक अभ्युन्नति के मूल निहित हैं।

मनु महाराज के अनुसार स्वाध्याय, व्रत, होम, देव व ऋषियों के तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति, इज्या और पंच महायज्ञों के अनुष्ठान से यह शरीर ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म -साक्षात्कार के योग्य हो जाता है-

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।[14]

[14] मनुस्मृति, २/२८

आचार्य शङ्ख के अनुसार संस्कारों से संस्कृत एवं आठ आत्म गुणों से युक्त मनुष्य ब्रह्मलोक में पहुँच कर ब्राह्मपद को प्राप्त कर लेता है, जिससे फिर वह कभी च्युत नहीं होता है- च्युत नहीं

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः

OF UNIVERS

नित्यमष्टगुणैर्युक्तो यस्मान्न च्यवते पुनः ।।

संस्कारों का धार्मिक अनुशीलन

धारणार्थक 'धृ' धातु से 'धरति यः स धर्मः' अर्थात् जो समाज को धारण करे या जिसे समाज धारण करे, वहीं धर्म है। धर्म शब्द कहीं पुलिंग, कहीं स्त्रीलिंग, कहीं अकारान्त (धर्म)[15] ' तथा कहीं

[15]ऋग्वेद, 1.187.1

नकारान्त (धर्मन्)[16] अनेक प्रकार से अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्थ्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिंद स्मृतम्॥

अर्थात् श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र या समस्त स्मृति साहित्य), सदाचार (श्रुति एवं स्मृति अनुमोदित आचरण) तथा आत्मकल्याण (जगत से निवृत्ति एवं परमतत्व परमात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा मुक्ति स्वरूप प्रियता की प्राप्ति) ये चारों तत्व धर्म के साक्षात् लक्षण है।[17] लक्षण अर्थात् इन चार बातों से धर्म एवं धर्मविषयक तत्त्व का ज्ञान होता है। इसी प्रकार भगवान मनु ने भी मनुस्मृतिमें

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रह (मन के ऊपर नियन्त्रण रखना), चौर्य (चोरी भाव का अभाव), शुद्धि (आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धि), इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, धी या बुद्धि (सत् असत् विवेकीनी निश्चयात्मिका वृत्ति), परा एवं अपरा विद्याएं (सत्-शास्त्रों का ज्ञान जिससे प्राप्त हो वह अपरा विद्या है एवं परमतत्व परमात्मा का ज्ञान जिससे प्राप्त हो,

---
[16] **अथर्ववेद, 6.51.3**
[17] **याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.7**

वह पराविद्या है), सत्य (त्रिकालाबाधित रूपबोध, बोधरूप सत्य का भाषण, आचरण) तथा क्रोध का त्याग, ये दस प्रकार के धर्म लक्षण बताये गये हैं।[18] इतने लक्षणों के होते हुए भी यह जिज्ञासा शान्त नहीं होती कि अकाट्य धर्म-अधर्म क्या है? सामान्यत: धर्म का विलोम अधर्म है अर्थात् वेदविहित कर्म (आचरण) धर्म है तथा वेदविरूद्ध कर्म (आचरण) अधर्म है।[19] इसी प्रकार श्रीमद्भागवत महापुराण में भी वेद प्रतिपादित धर्म तथा एतद्विरूद्ध अधर्म को बताया गया है।[20] मीमांसा दर्शन प्रणेता भगवान जैमिनी के अनुसार "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" अर्थात् वेद शास्त्रानुमोदित तात्पर्य ही धर्म है।[21]वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद के अनुसार **"यतोऽभ्यूदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"** अर्थात् जिससे मनुष्य को अभ्युदय अर्थात् धर्मसम्मत उन्नति तदनन्तर नि:श्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है।[22]

वेदों के दो काण्ड हैं-पूर्वकाण्ड या उत्तरकाण्ड । पूर्वकाण्ड यज्ञादि कर्म आधारित है जो 'मीमांसा दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरकाण्ड ज्ञानकाण्ड है जो आध्यात्मिक ज्ञान के स्त्रोत उपनिषदादि है

---

[18] मनुस्मृति, 6.92
[19] तर्कसंग्रह, पृ0 64
[20] श्रीमद्भागवत महापुराण,6.1.40
[21] मीमांसा दर्शन, 1.1.2
[22] वैशेषिक दर्शन, 1.1.2

जिन्हें 'वेदान्त दर्शन' कहते हैं। वेदों के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् इन चार अंशों में उपनिषद् अन्तिम अंश होने के कारण भी 'वेदान्त' कहे जाते हैं। इसी उपर्युक्त धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित संस्कारों का अनुशीलन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थों में मानव जीवन को आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टिकोण से उन्नत करने के निमित्त पुरुषार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की नियोजना की गयी तथा जिसका आचरण मानव के लिए आवश्यक बताया गया। इनमें धर्म को ही प्रथम क्यों बताया? इसके पार्श्व में हेतु यह है कि मानव को जीवन के पूर्वार्ध में यह भली प्रकार ज्ञात हो जायें कि किस प्रकार वह धर्मानुमोदित कार्यों द्वारा अर्थ का उपार्जन कर धर्म के अनुसार ही गृहस्थ जीवन का पालन कर जीवन के अन्तिम चरण में मोक्ष प्राप्त कर सके। यहां धर्म का तात्पर्य कर्मकाण्ड तथा आडम्बर आदि से ना होकर नैतिक नियमों तथा कर्त्तव्यबोध से है। इन नैतिक नियमों के उचित प्रकार कार्यान्वित करने के माध्यमस्वरूप ही इन संस्कारों का प्रतिपादन मनीषियों द्वारा किया गया। इन संस्कारों के माध्यम से हमारे मन: पटल पर यह अंकित करने का प्रयास किया गया है कि

किस प्रकार हमारा कर्म हमें उचित मार्ग पर अग्रसर कर सकता है । यद्यपि संस्कारों की एक निश्चित संख्या निर्धारित की गयी है तथापि इनके अन्तर्गत प्रकारान्तर से उन सभी नियमों को समाहित किया गया है जो कि हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के परिचायक माने जाते हैं।

मानव जीवन के सार्थकता की सिद्धि संस्कारों के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति का वचन है कि-

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः निषेकादिद्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

अर्थात् वैदिक पवित्र कर्मों से ही द्विजातियों के शुक्र-शोणितजन्य गर्भाधान आदि से अशुद्ध पवित्र अथवा शुद्ध होता है। द्विजातियों को पवित्र शारीरिक संस्कार अवश्य करने चाहिए क्योंकि ये लोक तथा परलोक दोनों में शुद्धि प्रदान करते हैं।[23]अत: संस्कार का अभिप्राय उन धार्मिक कृत्यों से है जो किसी व्यक्ति को अपने समुदाय का योग्य सदस्य बनाते हुए उसको शारीरिक तथा बौद्धिक रूप से पवित्रता प्रदान करे। इसी कारण संस्कारों के सम्पादन में यज्ञ, हवन तथा कर्मकाण्डादि क्रियाओं का बाहुल्य रहा साथ ही देवी-देवताओं को प्रसन्न कर उनका अनुग्रह

---

[23] मनुस्मृति, 2.26

प्राप्त कर जीवन को समुन्नत बनाने के लिए इन संस्कार प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ।

गर्भाधान संस्कार

प्राचीन भारतीय हिन्दू संस्कारो में प्रथम संस्कार 'गर्भाधान' है। 'गर्भ + आधान = गर्भाधान। इस संस्कार में विवाह के उपरान्त पति अपना वीर्य स्त्री में स्थापित करता है, यह अथर्ववेद का वचन है।[24] संस्कारविधि के अनुसार, "**गर्भस्याधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा, तद् गर्भाधानम्।** अर्थात् जिस कर्म द्वारा गर्भ का धारण अथवा वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर होता है, उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं।[25]

गर्भाधान की ओर संकेत करने वाली अनेक प्रार्थनाएं वैदिक साहित्य में मिलती हैं- "विष्णु गर्भ का निर्माण करें, प्रजापति बीज वपन करें, धाता भ्रूण की स्थापना करें | हे सरस्वती ! भ्रूण को स्थापित करो, नीलकमल की माला जैसे सुशोभित दोनों अश्विन कुमार तुम्हारे भ्रूण को प्रतिष्ठित करें।[26]ऋग्वेद में अन्यत्र भी गर्भाधान से सम्बन्धित

---

[24] अथर्ववेद, 5.2.3-5

[25] सरस्वती, स्वामी दयानन्द, संस्कारविधि, 2010, पृ0 25

[26] ऋग्वेद, 10.184

वचन प्राप्त होते हैं। यथा-

“तां पूषन् पुषञ्छितमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या: वपन्ति ।
यान उरु उशति विश्रुयाते यस्यामुशन्त: प्रहराम शेपम् ॥”

अर्थात् हे पुषा (पोषण के देव)! आप कल्याणप्रदा उस उर्वरा शक्ति को प्रेरित करें।[27]

गृह्यसूत्रों में गर्भाधान संस्कार का विधिवत् वर्णन है। शांखायनगृह्यसूत्र में वर्णित है कि ‘पति विवाह के तीन रात उपरान्त चतुर्थ रात्रि को पके हुए भोजन की आठ आहुतियाँ अग्नि, वायु, सूर्य, अर्यमा, वरूण, पूषा, प्रजापति एवं स्वयं प्रज्ज्वलित की गई अग्नि में देता है।[28] यह कार्य आज भी होता है, किन्तु अन्तर केवल यह है कि प्राचीन युग में विवाह के चौथे दिन यह कार्य होता था जबकि आज विवाह के दिन ही सिंदूरदान के बाद यह कार्य किया जाता है। जिसे 'चतुर्थीकर्म' कहते हैं।[29] 'तत्पश्चात् पति-पत्नी का स्पर्श करता हैं। पारस्करगृह्यसूत्र में भी लगभग यही विधि वर्णित है।[30]बौधायनगृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के उपरान्त ऋतु स्नान से शुद्ध पत्नी के समीप पति

[27] **ऋग्वेद, 10.85.37**
[28] **शांखायनगृह्यसूत्र, 1.18-19**
[29] **विवाह-पद्धति, पृ0 53**
[30] **पारस्करगृह्यसूत्र, 1.11.1-2**

को प्रतिमास जाने का विधान है, किन्तु इस कार्य से पूर्व उसे अनेकों प्रकार के पुत्रों जैसे-ब्राह्मण श्रोत्रिय (एक शाखा का अध्येता), अनूचान (वेदांगों का अध्येता), ऋषि- कल्प (कल्पों का अध्येयता), भ्रूण (सूत्रों एवं प्रवचनों का अध्येयता), ऋषि (चारों वेदों का अध्येता) एवं श्रेष्ठ संतान की प्राप्ति के लिए अनुष्ठा करना होता था।[31] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का वचन है कि 'मासिक प्रवाह की चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक समता वाली रातें बालक के लिए उपयुक्त हैं।[32] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने गर्भाधान का स्वाभाविक समय ऋतु प्रवाह की अभिव्यक्ति के उपरान्त की सोलह रात्रि माना है।[33] साथ ही इसके लिए अमावस्या पूर्णिमा तथा अष्टमी एवं चतुर्दशी तिथियों को वर्जित माना है।[34]

ऋतुधर्म स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है जो प्रारम्भ से सोलह दिन के लिए होता है। प्रारम्भ के चार दिनों के अन्तराल का समागम निन्दित है। इन सोलह रात्रियों में चार रात्रि, ग्यारहवीं रात्रि एवं तेरहवीं रात्रि वर्जित है। शेष रात्रिया गर्भाधान के लिए उत्तम कही

---

[31] बौधायनगृह्यसूत्र, 1.7.1-18

[32] आपस्तम्बगृह्यसूत्र, 3.9.1

[33] मनुस्मृति, 3.46, याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.79

[34] मनुस्मृति, 4.185, याज्ञवल्क्यस्मृति 1.79

गयी हैं। इन दस रात्रियों में युग्मरात्रि का समागम पुत्र कारक तथा विषम रात्रियों का समागम कन्या संतति कारक होता है।[35] रजोदर्शन के पश्चात् स्त्री के शुद्ध होने के पश्चात् पत्नी के साथ संतान प्राप्ति की कामना से स्त्री के संदर्भ में तीन प्रकार के गण्डान्त (तिथि, नक्षत्र एवं लग्न), सातवीं बधतारा, जन्म नक्षत्र, मूल, भरणी, अश्विनी, रेवती, मघा नक्षत्र, ग्रहण का दिन, व्यतीपात तथा वैधृति योग, माता-पिता के मृत्यु की तिथि, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, संध्याकाल तथा मध्यरात्रि में भी परिध योग का पूर्वार्द्ध, दिव्य अंतरिक्ष मंगल से उत्पन्न उत्पाद त्रय से दूषित दिन, जन्म लग्न, जन्मराशि से अष्टमराशि लगन तथा पापग्रह से युक्त राशि, भद्रा, षष्ठी तिथि, पर्व की तिथियां, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्य संक्रान्ति, रिक्ता तिथि (4,9,14) तथा रवि, मंगल एवं शनिवार के दिन का परित्याग कर गर्भाधान करना चाहिए। शेष दिनों में उत्तम है। इन युक्त विहीत तिथि, वार, नक्षत्र एवं चंद्रबल तथा लग्नबल की अनुकूलता होने, वेदमंत्रपूर्वक पद्धति के अनुसार गर्भाधान संस्कार करना चाहिए।[36]

---

[35] मनुस्मृति, 3.45-47

[36] मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 205-206

बौधायनगृह्यसूत्र में इस संस्कार के विषय में उल्लेख है कि इस दिन पत्नी उपवास रहते हुए सुन्दर ढंग से अलंकृत हो पति के निकट जाती थी तथा पति गर्भधारण में सहायक देवताओं की स्तुति का उच्चारण करता था।[37]अगले श्लोक में प्रजनन शक्ति का वर्णन है।[38]'तत्पश्चात् पति द्वारा पत्नी का आलिंगन के साथ वीर्यदान करते हुए गर्भाधान होता था।[39] मनुस्मृति का कथन है कि 'प्रथम बार जब पति द्वारा अपनी पत्नी[40] के साथ सहवास किया जाता था तब ही गर्भाधान संस्कार सम्पन्न किया जाता था । ' याज्ञवल्क्य भी प्रथम बार ही गर्भाधान संस्कार करने का निर्देश देते हैं।[41]

गर्भाधान संस्कार के लिए सुश्रुत संहिता का वचन है -

आहाराचास्पेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ।।

अर्थात् समागम के समय स्त्री एवं पुरुष की जैसी भावनाएँ, चेष्टाएँ, आहार एवं व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार की भावनाएँ गर्भस्थ शिशु की भी होगी।[42]

---

37 बौधायनगृह्यसूत्र, 1.7.37-41
38 बौधायनगृह्यसूत्र, 1.7.42
39 बौधायनगृह्यसूत्र, 1.7.44
40
41 याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.11
42 सुश्रुत, शरीरस्थान, 2.46

'वायुपुराण का कथन है कि देवावृध ने तेजस्वी पुत्र तनय को प्राप्त करने की अभिलाषा से गर्भाधान संस्कार सम्पन्न किया था।[43] वर्तमान समय में लोग आश्चर्य प्रकट कर सकते हैं कि गर्भाधान के समय भी मन्त्रोच्चारण किये जाते थे किन्तु उन्हें यह स्मरण होना चाहिए कि प्राचीन समय में प्रत्येक कृत्य धार्मिक समझा जाता था तथा पारिवारिक समारोह के साथ संगीत वाद्य मंत्रोच्चार के साथ आनंदमय वातावरण में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था, जिसका निर्वाह दक्षिण भारत में आज भी परम्परागत रूप से हो रहा है।

पुंसवन संस्कार

"पुमान् सूयते = प्रसूयते येन् तत् पुंसवनम्" अर्थात् पुंसवन वह संस्कार है जिसके करने से पुत्र संतति की प्राप्ति होती है। जिस संस्कार के अनुष्ठान से 'पुमान्' यानि 'पुरुष' संतान की उत्पत्ति हो, उसे 'पुंसवन संस्कार' कहते हैं।[44] अथर्ववेद में पुंसवन नाम आया है जिसका शाब्दिक अर्थ पुत्र अथवा लड़के को जन्म देना है। गृह्यसूत्रों में यह संस्कार

---

[43] **तस्यामाधत्त गर्भं स: तेजस्विनमुदारधीः। वायुपुराण 96.12**
[44] **पारस्करगृह्यसूत्र, 1.14.1**

गर्भ के दूसरे या तीसरे मास में करने का विधान बताया है जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र[45] में हो।' श्रवण, पुष्य, पुनर्वसु, हस्त, मूल, अनुराधा, मृगशिरा तथा अश्विनी, ये सभी में पुरुषसंज्ञक नक्षत्र पुरुषसंज्ञक कार्यों के लिए उत्तम माने जाते हैं।[46]पुरुष नक्षत्र शायद इसलिए कि गर्भ में स्थित भ्रूण भी पुरुष ही होगा। याज्ञवल्क्य स्मृति में गर्भाशय में गर्भ के गतिशील होने से पूर्व यह संस्कार सम्पन्न करने का विधान बताया है।[47] शौनक के अनुसार तृतीय या चतुर्थ मास जब गर्भ की अभिव्यक्ति होने लगे तब पुंसवन संस्कार करना चाहिए। वशिष्ठ के अनुसार जिस दिन तथा लग्न में ये संस्कार किया जाये उस दिन लग्न से आठवां स्थान शुद्ध हो, वहां कोई ग्रह न हो तो शुभ होता है। द्वितीय या तृतीय मास शुक्ल पक्ष, बृहस्पति, रवि तथा मंगलवार के पूर्वाह्न, रिक्ता तिथि (4,9,14) को छोड़कर षष्ठी, अष्टमी तथा द्वादशी तिथि के अतिरिक्त मृगशिरा, पुष्य, मूल, श्रवण, पुनर्वसु तथा हस्त नक्षत्र जब शुभग्रह केन्द्र (लग्न से 1,4,7,10) तथा त्रिकोण (लग्न से 1,5,9) तथा पापग्रह त्रिषडाय (3,6,11) स्थान में स्थित हो तथा लग्न से अष्टम स्थान पर

---

45 पारस्करगृह्यसूत्र, 1.14.2
46 निर्णयसिन्धु, पृ0 361
47 याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.11

कोई पापग्रह न हो तो पुंसवन संस्कार करना चाहिए।उ[48] इस संस्कार में स्त्री की नाक के दाहिने छिद्र में वटवृक्ष का रस छोड़ा जाता था। वटवृक्ष अथवा बरगद एक दीर्घजीवी वृक्ष है। हिन्दू धर्म में यह अत्यन्त पूजनीय वृक्ष है। इसकी उत्पत्ति यज्ञों के राजा मणिभद्र से मानी जाती है। ऐसी मान्यता है कि इसके पूजन से पुण्य की प्राप्ति होती है। यह वृक्ष त्रिमूर्ति का प्रतीक माना जाता है जिसकी छाल में विष्णु, जड़ में ब्रह्मा तथा शाखाओं में शिव का वास माना जाता है। इस वृक्ष को भगवान शिव का प्रतीक माना जाता है। संतान प्राप्ति के इच्छुक लोग इसकी विशेष पूजा करते हैं। यह वृक्ष दीर्घ अवधि तक जीवित रहता है। ऐसी मान्यता है कि इसके पूजन से उत्पन्न पुत्र भी दीर्घायु होगा।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में पुंसवन संस्कार की विधि का वर्णन इस प्रकार है-गर्भ के तीसरे महीने तिष्य (पुष्य) नक्षत्र के दिन स्त्री को उपवास करने के उपरान्त अपने समान रंग की बछिया वाली गाय के दही में दो कण उड़द एवं एक कण जौ का लेना चाहिए। यह पूछने पर कि "तुम क्या पी रही हो” स्त्री बोलेगी ‘पुंसवन’ (पुत्र की उत्पत्ति)। इसी प्रकार पति

[48] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 213-15**

दही, दो सेम तथा एक जौ के दाने के साथ अमुक क्रिया तीन बार करता है।[49] बृहस्पतिस्मृति के अनुसार यदि स्त्री प्रथम बार गर्भ धारण करती है तो यह संस्कार तृतीय मास में करना चाहिए। किन्तु वह स्त्री जो इसके पूर्व भी प्रजनन कर चुकी है यह कृत्य गर्भ के चतुर्थ, षष्ठ या अष्टम मास में भी कर सकते हैं।[50]याज्ञवल्क्यस्मृति का वचन है-

एतं च पुंसवन सीमन्तोन्नयने क्षेत्र संस्कार कर्मत्वात् सुकृदेव कार्यो न प्रतिगर्भम्।

अर्थात् यह पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन गर्भ के संस्कार है, अतः इनका सम्पादन एक ही बार करना चाहिए, प्रत्येक गर्भधारण में नहीं।[51]

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार

"सीमान्तः केश मध्यभागः उन्नीयते येन् तत् सीमन्तोन्नयनम्" अर्थात् सुभगा सौभाग्यशालिनी स्त्री के सीमन्त (मांग) के केशों को उठाना। सीमन्तोन्नयन शब्द का तात्पर्य 'स्त्री के केशों को ऊपर विभाजित करने' से है।[52] याज्ञवल्क्य एवं व्यास ने इस संस्कार को केवल 'सीमन्त' की संज्ञा दी है।[53]जबकि

---

[49] आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.13.2-4

[50] अस्थाना, रीना, गृह्यानुष्ठानों का सांस्कृतिक अन्वेषण, 2004, पृ0 84

[51] याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.11

[52] काणे, पी0वी0, धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-1), 1963, पृ0 189

[53] याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.11

गोभिलगृह्यसूत्र में इसे 'सीमन्तकरण' कहा है।[54] गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार यह संस्कार चतुर्थ मास, षष्ठ या अष्टम मास तक किया जा सकता है।[55] तृतीय से अष्टम मास में जिस मास का स्वामी बलवान हो उस माह में पुंसवन संस्कार के मुहुर्तादि पर ही सीमन्तोन्नयन संस्कार करना चाहिए।[56]

गृह्यसूत्रों में विधान है कि इस संस्कार में संस्कारकर्त्ता पति को पत्नी के केशों को ऊपर की ओर विभाजित कर मांग बनानी चाहिए।[57] वास्तविक विधान में मातृपूजन, नान्दीश्राद्ध एवं प्रजापत्य आहुति आदि के पश्चात् यह प्रारम्भ किया जाता था। नान्दीमुख में पितामह के तीन पीढ़ी तक के पूर्वजों को सम्मिलित माना जाता है।[58] पास्करगृह्यसूत्र तथा आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है कि 'पति तिल और मूँग मिले हुए हविर्द्रव्य को पकाकर प्रजापति को आहुति देकर, पीढ़े पर बैठी स्त्री के मांग को दो कच्चे गूलर के फूल, , तीन कुश की रस्सियों से तीन जगह पर सफेद धब्बे वाले साही के काँटे से पीपल की खूँटी (कील से) तथा सूत के टेंकुए से मंत्रों के

---

[54] गोभिलगृह्यसूत्र, 2.7.1
[55] गोभिलगृह्यसूत्र, 2.7.2
[56] मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 209-212
[57] पारस्करगृह्यसूत्र, 1.15.1
[58] राय, सिद्धेश्वरी नारायण, पौराणिक धर्म एवं समाज, 1968, पृ0 219

साथ स्त्री की मांग को विभक्त करता है।[59] तत्पश्चात् यह वृक्ष उर्जस्वी है, तू भी इस वृक्ष के समान ऊर्जस्वी एवं फलवती हो।[60] ऐसी प्रार्थना पति द्वारा की जाती है। आपस्तम्ब एवं बौधायन ने निर्देशित किया है कि यह संस्कार केवल प्रथम गर्भाधान के समय करने का विधान है।[61] कुछ धर्मग्रन्थों का कथन है कि इस संस्कार के अवसर पर गर्भिणी स्त्री के निकट ब्राह्मण स्त्रियाँ मंगलकारक शब्दों का उच्चारण करती हैं-तू वीर पुत्रों की माता हो, तू जीव पुत्रा हो, आदि[62] इसके पश्चात् पति दो वीणावादकों से सोम राजा की प्रशंसा गान करने को कहता है। इस अवसर पर पुरोहितों द्वारा निम्न मंत्रों का उच्चारण किया जाता है-

सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः ।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरै तुभ्यमसाविति।।

अर्थात् सोम ही हमारा राजा है, यह मानुषी प्रजा तुम्हारे राजचक्र से अविमुक्त तट पर निवास करे।[63] याज्ञवल्क्यस्मृति में वचन मिलता है कि-

---

59 पारस्करगृह्यसूत्र,1.15.1-5, आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.14.4
60 पारस्करगृह्यसूत्र,1.15.6

61 पारस्करगृह्यसूत्र, 14.6, बौधायनगृह्यसूत्र, 1.10.1
62 पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार, 2006, पृ0 82
63 पारस्करगृह्यसूत्र, 1.15.8, आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.14.8

दौहृदयस्याप्रदानेन गर्भोदोषमवाप्नुयात्।
वैरुप्यंमरणं वापि तस्मात् कार्य प्रियंस्त्रियः॥
अर्थात् गर्भावस्था के समय गर्भिणी स्त्री की इच्छा पूर्ति पति को करनी चाहिए। इच्छा की पूर्ति न हो पाने से गर्भ दोषयुक्त हो जाता है। गर्भ में अनेकरूपता तथा गर्भपात का भी भय रहता है।[64]

4. जातकर्म संस्कार

"जातस्य कर्मः जातकर्म" अर्थात् उत्पन्न शिशु का संस्कार जातकर्म संस्कार है। शिशु के जन्म के समय पिता द्वारा जो संस्कार अनुष्ठित होता है, वह 'जातकर्म संस्कार' है। विष्णुपुराण का कथन है कि पुत्र जन्म के अवसर पर इस संस्कार को करना चाहिए ।[65] प्रसव की सभी तैयारी पूर्व में ही कर ली जाती थी। नाल छेदन से पूर्व जातकर्म संस्कार करना चाहिए। जन्म का समय अनिश्चित होता है इस कारण इसके लिए विशेष मुहुर्तों की व्यवस्था धर्मशास्त्रों में वर्णित नहीं है। 'बृहदारण्यकोपनिषद' में उल्लेख मिलता है कि 'पुत्रोत्पत्ति के समय अग्नि प्रज्ज्वलित कर बच्चे को किसी की गोद में रखने के

---

[64] **याज्ञवल्क्यस्मृति, 3.79**
[65] **राय, सिद्धेश्वरी नारायण, पूर्वोक्त, पृ0 219**

बाद घी और दही मिलाकर कांस्य के बर्तन में रखकर अधोलिखित वचनों का उच्चारण करना चाहिए-
'मैं एक सहस्त्र सन्तानों को समृद्धि के साथ पाल सकूं, सन्तान-पशु वृद्धि में कोई अवरोध उपस्थित न हो, स्वाहा। मैं अपने प्राण आपको दे रहा हूँ, स्वाहा। इस कार्य में मैंने जो कुछ अधिक अथवा कम किया हो, उसे अग्नि देवता पूर्ण एवं अच्छा बनायें तथा हमारे द्वारा भली प्रकार सम्पादित समझें।[66]
इसके पश्चात् पिता अपने मुँह को शिशु के दायें कान की ओर करके 'वाक' शब्द बोलता है। दही, घी एवं शहद मिलाकर स्वर्ण चम्मच से शिशु को चटाता है तथा इन मन्त्रों का उच्चारण करता है-
ॐ भूस्ते दधामि। मैं तुझमें भूः (लोक) धारण करता हूँ।
ॐ भुवस्ते दधामि। मैं तुझमें भुवः (लोक) धारण करता हूँ।
ॐ स्वस्ते दधामि। मैं तुझमें स्वः (लोक) धारण करता हूँ।
ॐ भूर्भुवः स्वः सर्वंत्वयि दधामि। मैं भूर्भुवः स्वः सभी लोक तुझमें निहित करता हूँ।[67]

---

[66] **बृहदारण्यक उपनिषद, 6.4.24**
[67] **बृहदारण्यक उपनिषद, 6.4.25**

पारस्करगृह्यसूत्र का निर्देश है कि जिस स्थान पर शिशु का जन्म होता है, सुरक्षित प्रसव होने के कारण जनसाधारण द्वारा उस स्थान को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पिता इन वचनों द्वारा भूमि को धन्यवाद देता था- **"हे पृथ्वी मैं तेरा हृदय जानता हूँ, वह हृदय जो आकाश में, जो चन्द्रमा में रहता है। मैं उसे जानता हूँ, वह मुझे जाने ।"** तदुपरान्त प्रार्थना करता था- **हम सौ शरद ऋतु देखें, हम सौ शरद ऋतुपर्यन्त सुनें ।**[68] **इसके पश्चात् पिता शिशु के उच्चजीवन की कामना करते हुए कहता था- 'तू पत्थर हो (पाषाण की तरह दृढ़ और स्थिर), तू परशु हो (वज्र की तरह विपत्तिनाशक), तू खरा स्वर्ण बन (स्वर्ण के समान तेजयुक्त और रोगरहित), तू वास्तव में पुत्र के नाम पर आत्मा है, तू सौ शरद ऋतुपर्यन्त जीवित रहे।**[69] हरिवंशपुराण में जातकर्म संस्कार के साथ ही कर्णवेध कर कानों में कुण्डल (आभूषण) धारण करने का उल्लेख मिलता है।[70]

5. नामकरण संस्कार

---

[68] पारस्करगृह्यसूत्र, 1.16.13
[69] पारस्करगृह्यसूत्र, 1.16.14
[70] चौधरी, राममूर्ति, हरिवंशपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, 1989, पृ0 42

“नामं कृयते येन तत् नामकरणम्” अर्थात् जिस प्रक्रिया से नवजात शिशु का नाम निश्चित किया जाये। उस संस्कार का नाम 'नामकरण' है। इस संस्कार में शिशु का नाम रखा जाता है, क्योंकि नाम के अभाव में सांसारिक जीवन नहीं चल सकता। 'नामन् ' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में आया है।[71] 'देवानां नामधा' से स्पष्ट है कि ईश्वर ने वेद से सभी पदार्थों के नाम रखे है।[72] आश्वलायनगृह्यसूत्र का कथन है कि शिशु का नामकरण जन्म से दसवें दिन करना चाहिए। बालक का नाम सम अक्षरों एवं कन्या का नाम विषम अक्षरों का होना चाहिए।[73] ऋग्वेद में यज्ञ के उपरान्त नाम रखने की भी चर्चा है।[74] सायण के 'अनुसार नाम चार होते हैं, नक्षत्र नाम (बालक का जन्म नक्षत्र), गुप्तनाम, प्रसिद्ध नाम तथा यज्ञ पूर्ण करने पर रखा गया नाम।[75]

नामकरण संसकार पर्व तथा रिक्तातिथि के अतिरिक्त, शुभग्रह के दिन, व्यतीपात के दिन को छोड़कर जन्म के 11वें या 12वें दिन, मृदु (अनुराधा, चित्रा, मृगशिरा, रेवती), ध्रुव (रोहिणी, त्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपदा, उत्तराषाढ़ा), क्षिप्र (अश्विनी, पुष्य,

---

[71] **ऋग्वेद, 10.55.2**
[72] **ऋग्वेद, 10.82.3**
[73] **आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.15.4**
[74] **ऋग्वेद, 10.82.3**
[75] **काणे, पी0वी0, पूर्वोक्त, पृ0 196**

हस्त), चर (श्रवण, धनिष्ठा, सतभिषा, पुनर्वसु, स्वाति) नक्षत्रों में शिशु का नामकरण संस्कार करना शुभ होता है।[76]

नामकरण संस्कार की विधि के सन्दर्भ में विष्णुपुराण का वचन है-

कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशेषु च वेश्मनः ।
नामकर्माणि बालानां चूड़ाकर्मादिके तथा ।।
सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखेदर्शने ।
नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्प्रयतो गृही।।

अर्थात् इन संस्कारों के अवसर पर नान्दीमुख नामक पितरों की अर्चना करना चाहिए।[77] गोभिलगृह्यसूत्र में निर्देश है कि पिता बालक की जन्मतिथि तथा नक्षत्र को आहुतियाँ अर्पित करता है। शिशु का नाम उच्चारण करने से पूर्व उसकी ज्ञानेन्द्रियों का स्पर्श करते हुए निम्न मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए-
"तुम कौन हो, कौन से हो। तुम यह हो, तुम अमर हो। अमुक नाम वाले तुम दिनों के स्वामी से सम्बद्ध मास में प्रवेश करो।[78]

नामकरण संस्कार से सम्बद्ध वैखानसगृह्यसूत्र का

---

[76] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 215**
[77] **विष्णुपुराण, 3. 13.5-6**
[78] **को असि ? कतमो असि? एषो अस्यमृतो असि। अहमस्यत्यंमासंप्रविशासो।। गोभिलगृह्यसूत्र, 2.8.13**

वचन है-

ममनाम प्रथमं जातवेदः पितामाता च दधतुये दग्रे।
तत्वांबिमृहि पुनरामदैतोस्तवाहं नामविभराण्यग्ने।।
ममनाम तव च जातवेदो वाससी इन विवसा नौर्य चरावः ।
आयुषैत्वं जीवसे वयं यथावयं परिदधावहे पुनस्ते।।

अर्थात् हे जातवेद अग्नि! मेरे माता-पिता ने जो मेरा पहला नाम रखा था, उसे तुम मेरे लौटने तक धारण करो, हे अग्नि मैं तुम्हारा नाम धारण कर लूँ। हे जातवेदा ! अपने और तुम्हारे नाम को वस्त्रों के समान क-दूसरे का नाम धारण करें। तुम उचित रूप में हमारी धारण करके जो हम चलते हैं, ऐसे हम दोनों फिर से एक- आयु के लिए और हम अपने जीवन के लिये।[79]

प्रारम्भिक शताब्दियों में नक्षत्र नाम भी प्रचलन में आ चुके थे। पाणिनी ने श्रविष्ठा, फाल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, आषाढ़ा एवं कृतिका से बने नामों का उल्लेख किया है। पतंजलि ने महाभाष्य में तिष्य, पुनर्वसु, चित्रा, रेवती तथा रोहिणी आदि नामों की चर्चा की है। उदाहरणस्वरूप- पुष्यमित्र शुंग जो कि शुंग वंश का संस्थापक था ।[80]

---

[79] **वैखानसगृह्यसूत्र, 3.19**
[80] **काणे, पी0वी0, पूर्वोक्त, पृ0 199**

पतंजलि ने लिखा है कि जो नाम शत्रु का हो, वह नाम बालक का नहीं होना चाहिए क्योंकि शत्रु के नाम के प्रभाव से बालक में भी अपने माता-पिता के प्रति शत्रुता का भाव आना संभव है।[81] वस्तुत: शिशु नाम का निर्धारण सामान्यत: धार्मिक भावनाओं के आधार पर रखा जाता है अथवा किसी सन्त महात्मा एवं महापुरुष के नाम पर भी रख दिया जाता है। नामों के निश्चय के लिए लौकिक भाव भी उत्तरदायी होते हैं जो किसी व्यक्ति के विशिष्ट गुणों की ओर संकेत करते हैं। प्राय: यह माना जाता है कि नामों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी शिशु पर पड़ता है।

6. निष्क्रमण संस्कार

"निष्क्रमण संस्कार का तात्पर्य शिशु का प्रसूति गृह से बर्हिगमन अर्थात् बाह्य वायुमण्डल की ओर ले जाना है।" पारस्करगृह्यसूत्र में वर्णित है कि पिता बालक को बाहर ले जाता है तथा मन्त्रोच्चारण के साथ सूर्य के दर्शन कराता है।[82] मानवगृह्यसूत्र में सूर्यदर्शन के समय पुरोहित द्वारा निम्न मन्त्र उच्चारण

---

[81] ठाकुर, आद्यादत्त, वेदों मे भारतीय संस्कृति, 1967, पृ0 254
[82] पारस्करगृह्यसूत्र, 1.17.5-6

करना बताया है-

उदुत्यं जातवेदसं दैवं वहन्ति केतव: । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

अर्थात् सारे संसार के दर्शन के लिए उस जातवेदा सूर्यदेव की किरणें ऊपर की ओर उठती है अर्थात् उदय होती है।[83]

सूर्य दर्शन संस्कार के दिन शिशु की माता घर के आंगन अथवा घर के जिस स्थान पर सूर्य की रोशनी पूर्णरूप से पहुँचती हो, उस स्थान को गोबर तथा मिट्टी से लेपित कर वहाँ 'ॐ' तथा 'स्वस्तिक' जैसे मंगल चिह्न बनाकर धान के लावा को वहाँ फैला देती थी। मंगल सूचक होने के कारण धान का लावा या अक्षत फैलाकर वहां बालक को लाया जाता था। तत्पश्चात् पिता द्वारा शिशु को सूर्यदर्शन कराया जाता था।[84] 'वस्तुत: यह शिशु के जीवन का महत्वपूर्ण समय था तथा माता-पिता द्वारा किये गये कृत्य इस अवसर पर अपने आनन्द भाव की अभिव्यक्ति थी। किन्तु माता- -पिता से अलग बाहर के प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संकटों से शिशु सुरक्षित रहे इसलिए देवताओं की अर्चना करने का यत्न किया जाता था।[85]

---

[83] **मानवगृह्यसूत्र, 1.19.4**
[84] **पाण्डेय, राजबली, पूर्वोक्त, पृ0 112**
[85] **पूर्वोक्त, पृ. 110**

7. अन्नप्राशन संस्कार

“अन्न+प्र+असन् = अन्नप्राशन ।” यह तीन शब्दों के संयोग से निष्पन्न होता है। अन्न से तात्पर्य पके हुए अन्न से है (पकाया हुआ खाद्य पदार्थ), प्र का तात्पर्य विशिष्ट तथा असन् का तात्पर्य भोजन या खाने से है। सामान्य रूप से तो अन्न सभी सदा सर्वदा ग्रहण करते हैं किन्तु नवजात शिशु के लिए निश्चित माह, दिन, नक्षत्र, तिथि एवं मुहुर्तादि के अनुसार उसे अन्न ग्रहण कराया जाता है, इसलिए इसको अन्नप्राशन कहा जाता है। इस संस्कार के लिए पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा, अश्लेषा, आर्द्रा, शतभिषा, भरणी तथा रेवती नक्षत्र, दिनों में मंगलवार तथा शनिवार एवं तिथियों में द्वादशी तथा सप्तमी आदि ये सभी त्याज्य है। इसके अतिरिक्त अन्य नक्षत्र, तिथि तथा दिन अन्नप्राशन संस्कार के लिए शुभ मानी गयी है।[86] पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार यह संस्कार जन्म से छठें, आठवें, नवें, दसवें माह अथवा एक वर्ष पूर्ण होने पर के भी किया जा सकता है।[87] इस संस्कार के लिए बौधायनगृह्यसूत्र में वर्णन है कि-

---

[86] बृहदवकहड़ाचक्र, पृ0 53

[87] जन्मतो मासि षष्ठे स्यात सौरेणोत्तममन्नदम्। तदभावेऽष्टमे मासे नवमे दशमेऽपि वा।
द्वादशे वापि कुर्वीत प्रथमान्नाशनं परम्। संवत्सरे वा सम्पूर्णे केचिदिच्छन्ति पण्डिताः॥ नारद

अपां त्वौषधीनां रसं प्राश्यामि । शिवास्तु आप औषधयः सन्तु॥
अर्थात् मैं तुम्हें जल और औषधियों का रस खिलाता हूँ। जल और औषधियाँ तुम्हारे लिए कल्याणकर हों, वे तुम्हारे लिए रोगरहित हो।[88]

आश्वलायनगृह्यसूत्र में उल्लेख है - **"घृतौदनं तेजस्कामः"** अर्थात् जिस बालक को तेजस्वी बनाना हो, उसे घृतयुक्त चावल खिलावें ।[89] इस संस्कार में पके हुए भोज्य पदार्थों की आहुति वाग्देवता (सरस्वती देवी) को देते हुए शिशु की सभी इन्द्रियों की सजगता के लिए प्रार्थना की जाती थी। अन्त में पिता शिशु को उचित आहार खिलाता था साथ ही ब्राह्मण विद्वान भी भोजन करते थे।[90]
मार्कण्डेय पुराण में अन्नप्राशन संस्कार के विषय में एक रोचक चर्चा है कि अन्नप्राशन के दिन देवताओं के समक्ष शिल्प-कला से सम्बन्धित अनेक यन्त्र रखे जाते थे तथा शिशु स्वतंत्र रूप से जिस वस्तु को पकड़ता था उसके उसी वृत्ति में रूचि होने का पहले से ही आँकलन कर लिया जाता था ।[91]

---

[88] बौधायनगृह्यसूत्र, 2.3.6
[89] आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.16.1-4
[90] पाण्डेय, राजबली, पूर्वोक्त, पृ0 118
[91] काणे, पी0वी0, पूर्वोक्त, पृ0 202

बालक के पुस्तक अथवा लेखनी के स्पर्श करने से ब्राह्मणोचित शिक्षा-दीक्षा, पद- प्रक्रिया के कार्य में दक्षता प्राप्त करता है। खड्गादि अस्त्र के स्पर्श या ग्रहण करने से शिशु क्षत्रियोचित शूरता एवं वीरता के कार्य में दक्षता अर्जित करता है। इसी प्रकार तुला (तराजू) एवं मापतौल सम्बन्धी उपकरण के स्पर्श या ग्रहण से व्यावसायिक वृत्ति में निपुणता प्राप्त करता है। इन सभी में किसी का भी स्पर्श नहीं करने पर वह दासवृत्ति जैसे निम्नकार्यों में निमग्न होगा। ऐसा माना जाता है।

8. चूड़ाकर्म या मुण्डन संस्कार

"चूड़ा = नवजात: : शिशो: उपयुक्त काले प्रथम क्षौरकृयतेयेन तत् चूड़ाकर्णम्" अर्थात् नवजात शिशु का जन्म के बाद उपयुक्त वर्ष एवं मुहूर्त में प्रथम क्षौर किया जाता है उस विधि को 'चूड़ाकर्म संस्कार' कहते हैं। इसे 'मुण्डन संस्कार' भी कहा गया है। शास्त्रविहित रूप से प्रथम, तृतीय एवं पंचम वर्ष में मुहूर्त अनुसार मुण्डन संस्कार करने का विधान है। यदि किसी कारणवश पाँच वर्ष तक मुण्डन न हो पाया तो बिना मुहूर्त के किसी भी शुभ दिन को

मुण्डन कराया जा सकता है।[92]

आश्वलायनगृह्यसूत्र का मत है कि-

तृतीये वर्षे चौलं यथा कुलधर्मं वा। कुलधर्मोपदिष्टे वा काले चौलं कार्यम्। जन्मप्रभृति तृतीये वर्षे वा कार्यमिति। व्यवस्थितविकल्पः केषाञ्चिदुपनयनेन सह स्मर्यत इति।

तृतीये पंचमे वाऽब्दे चौलकर्म प्रशस्यते ।
प्राग्वाऽसमे सप्तमे वा सहोपनयेन वा ।

अर्थात् तृतीय वर्ष की अवस्था में चौल अर्थात् चूड़ाकर्म संस्कार कुलधर्मानुसार (कुलाचार)) करने का विधान है। इसका एक बहुव्यवस्थित विकल्प यह भी है कि बहुधा कुलों में उपनयन संस्कार के साथ उपनयन के पूर्व यह संस्कार किया जाता है, क्योंकि आजकल प्रचलित मुण्डन शास्त्रीय कर्मकाण्ड विधि के अनुसार संस्कार के रूप में सम्पन्न न करके मात्र लोकाचार, कुलधर्म के अनुसार किसी देवस्थान, पवित्र नदी के सुरम्यतट या अपने गृह पर ही नापित बुलाकर मुण्डन करा देते हैं। किन्तु वहीं आश्वलायनगृह्यसूत्र में तृतीय के साथ-साथ जन्म से पंचम एवं सप्तम वर्ष में भी मुण्डन संस्कार की बात करते हुए उपनयन के साथ भी करने की पुनरावृत्ति

---

[92] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 240**

की गयी है।[93] 'मुण्डन संस्कार के काल के सम्बन्ध में अनेक गृह्यसूत्रों में अनेक प्रकार के समय निर्धारित है। जैसे-पारस्करगृह्यसूत्र में जन्म से प्रथम, तृतीय वर्ष[94] तथा आपस्तम्बगृह्यसूत्र तृतीय वर्ष में मुण्डन की पुष्टि करता है।[95] मनुस्मृति के अनुसार सभी द्विजातियों का चूड़ाकर्म प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में करना चाहिए।[96] याज्ञवल्क्यस्मृति तो चूड़ाकर्म काल के सम्बन्ध में केवल कुलाचार को ही प्रमुखता दी है।[97] इसी की पुष्टि गरुड़ पुराण से भी होती है।[98]

धर्मशास्त्र के परम प्रामाणिक ग्रन्थ निर्णणसिंधु के मत से चूड़ाकर्म संस्कार को सम्पन्न करने के लिए अयन, मास, पक्ष, तिथि, दिन एवं नक्षत्र भी सुनिश्चित किये गये हैं। यथा- जब सूर्य उत्तरायण हो (14 जनवरी से 14 जुलाई तक, जब सूर्य मकर राशि से प्रारम्भ करके कर्क राशि पर पहुँचते हैं, तब तक उत्तरायण होता है।) विशेषकर सौम्य गोल, शुक्ल पक्ष में शुभ कहा गया है । अत्यावश्यक होने पर अशुभ का भी तीन भाग कर एक भाग में किया जा सकता है। द्वितीय, तृतीया, पंचमी, सप्तमी,

---

93 आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.17.1, संस्कारा प्रकाश 289
94 पारस्करगृह्यसूत्र, 4.1
95 आपस्तम्बगृह्यसूत्र, 6.16.3
96 मनुस्मृति, 2.35
97 याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.12
98 गरुड़पुराण, 1.13.12

दशमी, एकाशी तथा त्रयोदशी तिथि में चौलकर्म होना चाहिए। पापग्रहों के वार (रविवार, मंगलवार तथा शनिवार) इन दिनों में मुण्डन नहीं होना चाहिए। किन्तु विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए रविवार, क्षत्रियों के लिए मंगलवार तथा वैश्य व शूद्र के लिए शनिवार का दिन शुभ माना गया है। हस्त, अश्विनी, श्रवण, रेवती, धनिष्ठा, पुष्य, चित्रा, तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभद्रपदा तथा उत्तराषाढ़ा), रोहिणी एवं स्वाति आदि नक्षत्र इसके लिए शुभ कहे गये हैं। जिस दिन परिवार में किसी का निधन हुआ हो या उस बालक का जन्म हुआ हो जिसका मुण्डन होना है, चन्द्रमा उसकी राशि से अष्टम में हो, परिवार में किसी अमंगल की स्थिति चल रही हो तथा वध एवं प्रत्यरी तारा जिस दिन हो उस दिन मुण्डन नहीं करना चाहिए। जिस बच्चे का मुण्डन करना है, उसकी माता उस समय गर्भवती न हो। अमुक विवर्जित स्थिति में मुण्डन संस्कार सम्पन्न कराने से यदि कन्या हो तो वैधव्य को प्राप्त करती है तथा बालक जड़तत्व (मूर्खता) को प्राप्त करता है तो यदि ऐसे में चौलकर्म होता है। वह शिशु मृत्यु को भी प्राप्त करता है। इन तीनों (वध, प्रत्यरी एवं विपतकर स्थिति) में चौलकर्म संस्कार नहीं करना चाहिए। चौलकर्म के समय माता रजस्वला न हो

अन्यथा पाँच दिन के अन्दर ही मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।[99] यह चौलकर्म कार्य मांगलिक उपक्रम जैसे - मंगलाचरण, स्वस्तिवाचन, गणेशपूजन, मातृपूजन, आभ्यूदिक, नान्दीमुख श्राद्ध, कलशपूजन, नवग्रहपूजन आदि के साथ किया जाना चाहिए। आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है- **'तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये'** अर्थात् इस संस्कार से व्यक्ति को दीर्घायु, सौन्दर्य तथा कल्याण प्राप्त होता है।[100]

इस संस्कार में बच्चे के केश काटने के साथ ही होम, ब्राह्मण भोजन तथा दक्षिणादान आदि अनेक कर्मकाण्ड होते हैं। कटे हुए केश को गोबर में रखकर गाड़ देना चाहिए अथवा इस प्रकार हटा देना चाहिए कि उसे कोई पा ना सके।[101] जल को अभिमंत्रित करने का उल्लेख काठकगृह्यसूत्र में इस प्रकार वर्णित है-

यह सविता क्षुर के साथ आया है, हे वायु तुम उष्ण जल के साथ आओ। हे आदित्यों, रूद्रों, वसुओं तुम सब एकचित्त होकर सोमराजा के समान बुद्धिमान इस बालक का मुण्डन करो।[102]

---

[99] **निर्णयसिन्धु, पृ0 389-391**
[100] **आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.17.12**
[101] **बौधायनगृह्यसूत्र, 1.12.1**
[102] **काठकगृह्यसूत्र, 40.6**

कुछ ग्रन्थों में निर्देश है कि कटे हुए देश को बैल के गोबर में रखकर गौशाला में गाड़ दिया जाये अथवा उदुम्बर पेड़ की जड़ में गाड़ दिये जाने का विधान बताया है।[103] कहीं-कहीं पर अपनी मन्नत के अनुसार बहुत से लोग किसी विशेष मन्दिर में जाकर अथवा किसी तीर्थस्थल पर पवित्र नदी के किनारे मुण्डन संस्कार करवाते हैं।[104]

9. कर्णवेध संस्कार

"कर्णोः वेध: छिद्रकरणं कर्णवेधः" अर्थात् दोनों कानों को छेदना ही कर्णवेध हैं। शिशु के शोभन एवं अलंकरण के निमित्त किया जाने वाला धार्मिक संस्कार ' कर्णवेध संस्कार' कहलाता है। बौधायनगृह्यसूत्र के अनुसार- कर्णवेध संस्कार का समय जन्म के सातवें या आठवें महीने होता है।[105] पारस्करगृह्यसूत्र के मत से जातक के तीसरे, पाँचवे वर्ष में कर्णवेध करना चाहिए। इन वर्षों में भी षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम मास में, इन मासों में भी बारहवें या सोलहवें दिन तथा दिनों में भी पूर्वाह्न में,

---

103 शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 4
104 मुकर्जी, रविन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, पृ0 128
105 काणे, पी0वी0, पूर्वोक्त, पृ0 201

अपरान्ह में नहीं करना चाहिए।[106] कात्यायनगृह्यसूत्र में मात्र तीसरे या पाँचवे वर्ष कर्णवेध संस्कार करने को कहा है। मास, दिन आदि की व्यवस्था नहीं बतायी है।[107] मुहूर्त्तचिन्तामणि पीयूषधारा में उल्लिखित महर्षि वशिष्ठ के मत से किस वर्ष में कर्णवेध हो, इसका उल्लेख नहीं है किन्तु छठें, सातवें, आठवें मास के बारहवें तथा सोलहवें दिन पूर्वान्ह न कि रात्रि को कर्णवेध का विधान है। वहीं पीयूषधारा में व्यवहारोच्चय ग्रन्थ के अनुसार जन्म के मास, चैत्र एवं पौष मास, भगवान विष्णु के शयनकाल (आषाढ़ शुक्ल एकादशी से कार्तिक शुक्ल प्रबोधिनी एकादशी के मध्य), जन्मतारा के नहीं रहने पर, रिक्तातिथि (चतुर्थी, नवमी तथा चतुर्दशी) न हो तथा जिस तिथि को कर्णवेध किया जा रहा है, उस दिन भद्रा न हो एवं जन्म से विषम वर्ष में कर्णवेध का विधान उल्लिखित है।[108]

कात्यायनगृह्यसूत्र में पिता द्वारा इस संस्कार को किये जाने का उल्लेख मिलता है किन्तु कर्णवेध किसके द्वारा किया जाएगा, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता

---

[106] **पारस्करगृह्यसूत्र, 2.11**
[107] **कात्यायनगृह्यसूत्र, 2.2**
[108] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 231-231**

है।[109] इस संस्कार में बालक के साथ-साथ माता- - पिता, गणेशपूजन एवं मन्त्रों द्वारा सरस्वती, कुलदेवता, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नवग्रह तथा लोकपालों का ध्यान कर ब्राह्मण का सम्मान करने के साथ ही कर्णवेध संस्कार को करने का विधान प्राप्त होता है।[110]

यद्यपि कर्णवेधकर्त्ता का उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में स्पष्टतः प्राप्त नहीं होता है। शुक्लयजुर्वेदीयउपनयनपद्धति के कर्णवेध प्रकरण में कर्मकाण्ड प्रक्रिया के अन्तर्गत सौभाग्यवती स्त्री के द्वारा स्वर्णशलाका से बालक का प्रथम दाहिना कर्ण तथा कन्या का प्रथम वामकर्ण वेधने पर उल्लेख मिलता है। किन्तु कर्मकाण्ड प्रक्रिया के अन्तर्गत प्राय: यह देखा जाता है कि संस्कारकर्त्ता पिता या संस्कार के आचार्य ब्राह्मण के द्वारा यथासुलभ स्वर्णशलाका अथवा कुशा त्रेणी (तीन स्थान पर सफेद), शलली (शाही का कांटा) के द्वारा वेधस्थान (कर्णलोरिका) को रोली से अंकित कर बालक जिसका कर्णवेध होना है, उसके हाथ में मिष्ठान्न (मिठाई) रखकर कर्णवेध किया जाता है।[111]

कर्णवेध संस्कार के धार्मिक अनुशीलन से यह ज्ञात

[109]**पाण्डेय, राजबली, पूर्वोक्त, पृ0 131**
[110]**पाण्डेय, महेन्द्रनाथ, कर्णवेध संस्कार, पृ0 25**
[111]**शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 15**

होता है कि संस्कार तो सभी ज्योतिषशास्त्रीय मुहुर्तों के अनुसार ही होते हैं किन्तु कर्णवेध संस्कार में मुहूर्त्त का विशेष महत्त्व बताया है। उपयुक्त शास्त्रसम्मत मुहूर्त्त पर यह संस्कार नहीं किया जाने से तत्काल अनिष्ठ की बातें बतायी गयी हैं।

10. विद्यारम्भ संस्कार

"वेत्ति सकलं ज्ञानजातं यया सा तस्या आरम्भः विद्यारम्भः" अर्थात् विद्या जिसके द्वारा समग्र ज्ञान समूह का ज्ञान प्राप्त हो सके उसे विद्या कहा जाता है। नवजात शिशु को विद्या के क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त करने के प्रारम्भ को विद्यारम्भ संस्कार कहते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि "वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुंजीतं । वृत्तोपनयनस्त्रीमान्वीक्षिकी च शिष्टेभ्यो वार्तामध्यक्षेभ्यो, दण्डनीति वक्तृप्रवकतभ्यः । ब्रह्मचर्य चाषोऽशाद्वर्षात्। अतो गोदानं दारकर्म च।' अर्थात् चौल (मुण्डन) के उपरान्त राजकुमार को लिखना एवं अंकगणित सीखना पड़ता था तथा उपनयन के उपरान्त उसे वेद, आन्वीक्षिकी (तत्वज्ञान), वार्ता (कृषि एवं धन विज्ञान) तथा दण्डनीति (शासन कला) 16 वर्ष तक पढ़नी पड़ती थी तथा तभी गोदान के उपरान्त उसका

विवाह होता है।[112] रघुवंशमहाकाव्य में कालिदास ने लिखा है कि राजा अज ने पहले अक्षर सीखे और तब वह संस्कृत साहित्य के सिन्धु में उतरा।[113]

यह संस्कार भी अन्य संस्कारों की भांति धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्रसम्मत शुभ समय (मुहूर्त्त) में प्रारम्भ करने का विधान है। संस्कारों की श्रृंखला में इसके पूर्व 'अक्षराम्भ संस्कार' करने के प्रयोग कतिपय ग्रंथों एवं मुनियों के मत में प्राप्त होते हैं। यद्यपि कि अक्षराम्भ के पर्याय के रूप में विद्यारम्भ एवं विद्यारम्भ के पर्याय के रूप में अक्षराम्भ का भी प्रयोग हुआ है। दोनों संस्कारों के मुहूर्त्त एवं नक्षत्रों में स्वल्प मतभेद है। मुहूर्त्तशास्त्र के परम प्रामाणिक आचार्य रामाचार्य अपने परम एवं चरम प्रसिद्ध ग्रंथ मुहूर्तचिन्तामणि में अक्षराम्भ एवं विद्यारम्भ नाम के दो संस्कारों के मुहूर्त का पृथक-पृथक उल्लेख किया है। अपने मूलश्लोक में अक्षराम्भ के लिए 'लिपिग्रह' अर्थात् लिपि या अक्षर का ज्ञान एवं विद्यारम्भ के लिए 'अधीति' अर्थात् विद्या का अध्ययन शब्द का प्रयोग किया है। जिससे यह सुनिश्चित होता है कि व्यवहारिक रूप से शिशु को विद्याध्ययन प्रारम्भ

---

[112]**अर्थशास्त्र, 1.5**

[113]**रघुवंश महाकाव्य, 3.28**

करने के लिए लिपिग्रह अर्थात् अक्षराम्भ, अक्षर या लिपि का ज्ञान परमावश्यक है। “न क्षरति इति अक्षरं” अर्थात् जिसका विनाश न हो उसे अक्षर कहा जाता है। जो ध्वनियात्मक होता है तथा ध्वनि नित्य है। उसका कभी नाश नहीं होता तथा लिपि उसी अक्षर की आकृति का घोतक है। इस प्रकार चाहे षोडश संस्कारों में अक्षरारम्भ की गणना न करके विद्यारम्भ में ही अक्षराम्भ को समाहित कर लिया गया हो किन्तु मुहूर्त्तचिन्तामणि में अलग-अलग ये दो संस्कार स्वीकार करते हैं। मुहूर्त्तचिन्तामणि में ग्रंथ की परम प्रसिद्ध टीका पीयूषधारा जो कि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की मान्यता रखती है, उसमें लिपिग्रह अर्थात् अक्षराम्भ के लिए ‘नूतनाक्षरलेखनं' एवं 'अक्षरस्वीकरणं' शब्द का व्यवहार मिलता है। यथा- मुहूर्त दिग्दर्शित करते हुए “शिशोलिपिग्रह नूतनाक्षरलेखन प्रारम्भः " लिखते हैं। वहीं पर महर्षि वशिष्ठ का कथन है कि-“उद्गाते भास्वति पंचमेऽब्दे प्राप्ते अक्षरस्वीकरणं शिशुनाम्।” अर्थात् शिशु जब पाँच वर्ष में प्रवेश करने लगे तथा सूर्य जब उत्तरायण में हो तब शिशु का अक्षरस्वीकरण करना चाहिए। वहीं पीयूषधारा में ‘प्रयोगपारिजात’ ग्रंथ के अनुसार आचार्य श्रीधर का मत उद्धृत करते हुए अक्षराम्भ को ‘अक्षरस्वीकृति’ शब्द प्रदान किया है।

वहीं पीयूषधारा में महर्षि मार्कण्डेय ने अक्षराम्भ को ही विद्यारम्भ स्वीकार किया। यथा-

“एवं सुनिश्चित काले विद्यारम्भं तु कारयेत॥[114]

इसी की सहमति आचार्य कमलाकरभट्ट के निर्णयसिन्धु नामक ग्रंथ में विद्यारम्भ को ही अक्षरस्वीकृति माना है।[115]

इस प्रकार यद्यपि अक्षराम्भ में विद्यारम्भ एवं विद्यारम्भ में अक्षराम्भ का प्रवचन पीयूषधारा में हुआ है तथा दोनों को दो अलग-अलग संस्कार के नाम से बताया है। इससे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि ये दोनों पृथक हैं तथापि लिपिज्ञान हो जाने के पश्चात् ही विद्याओं का अध्ययन प्रारम्भ करने के लिए विद्यारम्भ की उपयोगिता अपरिहार्य है। विद्यारम्भ संस्कार के लिए मृगशिरा, आर्द्रा, पुनवर्सु, हस्त, चित्रा, स्वाति, श्रवण, घनिष्ठा, शतभिषा, अश्विनी, मूल, तीनों पूर्वा (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा तथा पूर्वाभाद्रपदा), पुष्य, अश्लेषा नक्षत्र तथा रविवार, गुरुवार एवं शुक्रवार को विद्याध्ययन प्रारम्भ करना उत्तम माना गया है। इसी की पुष्टि पीयूषधारा में आचार्य श्रीपति, महेश्वर, बृहस्पति एवं महर्षि वशिष्ठ आदि ने की है।[116]

---

[114] **मुहूर्तचिन्तामणि, 5.37-38, पृ0 246-47**
[115] **निर्णयसिन्धु, पृ0 293**
[116] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 246-47**

धर्मशास्त्राचार्य शिरोमणि आचार्य कमलाकरभट्ट प्रणीत निर्णयसिन्धु नामक ग्रंथ में उद्धृत मदनरत्न ग्रंथ में नृसिंह का वचन है कि शिशु के पंचम वर्ष की अवस्था प्रारमभहोने पर उत्तरायण सूर्य में कुम्भ के सूर्य (14 फरवरी से 14 मार्च) को छोड़कर अक्षरस्वीकृति (विद्यारम्भ) संस्कार करनाचाहिए। इस संस्कार विधि के सम्बन्ध में निर्णयसिन्धु में उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार शुभ मुहूर्त्त में भगवान विष्णु, लक्ष्मी, भगवती, सरस्वती तथा अपनी विद्या का पूजन करके इन देवताओं के नाम से घृत की आहुति देकर दान- दक्षिणा के द्वारा ब्राह्मण पूजन एवं समादर कर विद्यारम्भ प्रारम्भ करना चाहिए।[117]

संस्कार वाले दिन बालक को स्नान कराकर सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित कर गणेश, सरस्वती तथा गृहदेवता का पूजन तथा हवन के साथ ही गुरु बालक का विद्यारम्भ संस्कार करवाता है। इस अवसर पर रजत फलक पर केशर, अक्षत आदि छिड़ककर, स्वर्ण की लेखनी से उस पर अक्षर तथा निम्न मन्त्र लिखने का विधान है-**श्री गणेशाय नमः, सरस्वत्यै नमः, गृहदेवताभ्यो नमः, लक्ष्मीनारायणाभ्यां**

---

[117]**निर्णयसिन्धु, पृ0 294**

नमः, ॐ नमः सिद्धाय।[118] इसके पश्चात् बालक गुरु को वस्त्र, आभूषण तथा दक्षिणा आदि देता तथा वे बालक को आदर्शवाद प्रदान करते हैं।

11. उपनयन संस्कार

उपनयन शब्द की व्युत्पत्ति **"उप समीपे नियते येन् तत् उपनयनम्"** अर्थात् उपनयन वह संस्कार है जिससे ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्रह्मतेज एवं तत्वात्मक ज्ञान के निकट पहुँचने या ब्रह्मतेज एवं परमतत्व के ज्ञान प्राप्त करने में प्रमुख योगदान प्राप्त होता है। उपनयन वेदों के अनुसार अलग-अलग प्रक्रिया से सम्पन्न होता है। जिसका जो वेद एवं शाखा हो उसी वेद एवं शाखा के अनुसार उपनयन सम्पन्न होना चाहिए। यदि अपने वेद एवं शाखा का विश्वसनीय ज्ञान न हो तो **'यजुः सर्वत्र गीयते'** अर्थात् यजुर्वेद से सभी का संस्कार किया जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ 'उप' अर्थात् समीप तथा 'नयन' का तात्पर्य 'ले जाना' अर्थात् **'ज्ञान एवं ब्रह्म की प्राप्ति के निमित्त गुरु के सन्निकट (पास) ले जाना।**[119] अग्निदेव के सन्निकट पहुँचकर ज्ञान के चरम एवं परम तत्व तक

---

[118]**काणे, पी0वी0, पूर्वोक्त, पृ0 207**
[119]**शर्मा, अरविन्द, हिन्दू संस्कारों का धर्मशास्त्रीय विवेचन, पृ0 25**

पहुँचाने वाला संस्कार उपनयन संस्कार है। उपनयन संस्कार शिक्षा की पूर्णता होने पर दीक्षा के माध्यम से परमब्रह्म के निकट ले जाने वाला संस्कार है। इसीलिए उपनयन संस्कार के कर्मकाण्डीय संकल्प में 'ब्रह्मवर्चस प्राप्तिकामः उपनयनं संस्कारं करिष्ये' अर्थात् ब्रह्मतेज प्राप्त की इच्छा से उपनयन संस्कार किया जा रहा है। जिससे पूर्व के उल्लेख की पुष्टि होती है कि उपनयन अपराविद्या के साथ-साथ पराविद्या का भी माध्यम है। अपरा विद्या से समस्त लौकिक ज्ञान - विज्ञान का सम्बन्ध है तो परा विद्या उस तत्वात्मक ज्ञान का सम्बन्ध है जो अलौकिक ब्रह्मज्ञान (अध्यात्म) का भी माध्यम है।

उपनयन संस्कार को यज्ञोपवीत, व्रतबन्धन, उपनीति, मौंजीबन्धन, मेखलाबन्धन आदि नामों से भी जाना जाता है। मनुस्मृति का वचन है-**न ह्यास्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौंजीबन्धनात्।**

अर्थात् बालक (द्विज) बिना यज्ञोपवीत संस्कार के किसी भी धार्मिक कृत्य का अधिकारी नहीं हो सकता है।[120] ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय भी अध्ययनशील विद्यार्थियों के उपनयन संस्कार होते थे।[121] उपनयन की अवधि को लेकर धर्मशास्त्रकारों

---

[120]मनुस्मृति, 1.171

[121]युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उश्रेयान्भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः । ऋग्वेद 3.8.4

में मतभेद है । मनुस्मृति के अनुसार - "ब्रह्मवर्चस प्राप्ति के इच्छुक बालक का जन्म से पाँचवें वर्ष, क्षत्रिय बालक का बल प्राप्ति के लिए छठें वर्ष ऐश्वर्य के इच्छुक वैश्य बालक का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए ।[122]

पारस्करगृह्यसूत्र, आपस्तम्बगृह्यसूत्र, मनुस्मृति तथा मुहूर्त्तचिन्तामणि में वर्णित है कि ब्राह्मण बालक का जन्म से आठवें अथवा गर्भ से आठवें वर्ष क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए।[123]
निर्णयसिन्धु में उद्धृत आपस्तम्ब के कथनानुसार मनोरथ सिद्धि के लिए सप्तम वर्ष, ब्रह्मतेज प्राप्ति के लिए अष्टम, आयुष्य प्राप्ति के लिए नवम् तथा तेज प्राप्ति के लिए दशम, अन्नादि की कामना से एकादश, इन्द्रिय या पशुधन की कामना से द्वादश वर्ष में उपनयन करने का विधान है।[124]इसके साथ ही मनुस्मृति में उपनयन संस्कार के लिए गौणकाल का भी उल्लेख है जिसके अनुसार सोलह वर्ष तक ब्राह्मण को सावित्री की प्राप्ति होती है, इसके पश्चात् उसे सावित्री का बोध नहीं होता। इसी प्रकार बाइस

---

[122] **ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य विप्रस्य पंचमे । राजो बलार्थिन षष्ठे वैश्यस्यात्यार्थिनीअष्टमे। मनुस्मृति, 2.37**

[123]**पारस्करगृह्यसूत्र, 2.2.1 -4, मनुस्मृति 2.36, मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 249, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 4.10.2-3**
[124]**निर्णयसिन्धु, पृ0 395**

वर्ष तक क्षत्रिय एवं चौबीस वर्ष की अवस्था तक वैश्य का उपनयन हो सकता है तथा उपनयन संस्कार का जो मुख्य उद्देश्य है सावित्री की प्राप्ति, वह हो जाती है।[125]

निर्णयसिन्धु में उद्धृत ज्योतिनिबन्ध के वचनानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के उपनयन के लिए जो आयुष्यव्यवस्था है उसके व्यतीत हो जाने पर अनुपनीत (जिसका यज्ञोपवीत नहीं हुआ हो) ऐसे लोग शूद्र बने रहते हैं, क्योंकि जिनका यज्ञोपवीत होता है, उन्हें 'द्विज' कहा जाता है। द्विज शब्द की व्युत्पत्ति है- "द्वाभ्यांजन्म-संस्कारांभ्याजायते यः स द्विजः " अर्थात् जिसका दो प्रकार से जन्म हो, उसे द्विज कहा जाता है। प्रथम प्रकार माता के उदर (पेट) से तथा द्वितीय प्रकार उपनयन संस्कार के माध्यम से संस्कारगत जन्म होना।[126] यथा-

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदपाठी भवेत् विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।

अर्थात् जन्म से सभी शूद्र (जन्म की प्रक्रिया अशौचपूर्ण होने से सभी शूद्र के समान हैं) होते हैं, संस्कार से द्विज बनते हैं, वेदाभ्यास से विप्र बनते हैं एवं ब्रह्मज्ञान प्राप्ति से ब्राह्मण कहे जाते

[125] **मनुस्मृति, 2.38**
[126] **निर्णयसिन्धु, पृ0 396**

हैं।[127]बौधायनगृह्यसूत्र, आपस्तम्बगृह्यसूत्र तथा निर्णयसिन्धु में गर्ग के मतानुसार उपनयन के लिए विभिन्न ऋतुओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है -' बसन्ते ब्राह्मणमुपनयति ग्रीष्मे राजन्यं शरदि, वैश्यं वर्षासु रथकारमिति' अर्थात् ब्राह्मण बालक का बसन्त ऋतु, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु तथा वैश्य का उपनयन शरद ऋतु में करना चाहिए।[128]सामान्य रूप से तो गर्ग मानते है कि माघ मास से पाँच मास (माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ) में कभी भी मुहुर्तानुसार सभी द्विजों का उपनयन संस्कार हो सकता है। वहीं निर्णयसिन्धु में हेमाद्रि ने भी इन्हीं बातों की पुष्टि की है। वहीं पर कालादर्श ग्रंथ में उद्धृत वृद्धग्राम्य के मतानुसार माघ से छः मास (माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा आषाढ़) जब तक उत्तरायण रहता है, तब तक कभी भी उपनयन संस्कार हो सकता है। यथा-

माघादिमासषट्के तु मेखलाबन्धनं मतम्।

इसी बात की पुष्टि वहीं उद्धृत मैत्रेयसूत्र के वचन से भी होती है।[129] मुहूर्त्तचिन्तामणि पीयूषधारा में उद्धृत चण्डेश्वर के मतानुसार किस मास में उपनयन करने का क्या फल होता है। इस सम्बन्ध में कहा

---

[127]**मनुस्मृति, पृ0 38**
[128]**बौधायनगृह्यसूत्र 11.5.6, आपस्तम्बगृह्यसूत्र 4.10.4, निर्णयसिन्धु, पृ0 396**
[129]**निर्णयसिन्धु, पृ0 396**

गया है कि माघ मास में उपनयन करने से जीवन में धन की प्राप्ति होती है, फाल्गुन मास में उपनयन होने से व्यक्ति अपने नियमों का दृढ़ होता है, चैत्र मास में उपनयन होने पर मेधावी, वैशाख मास में उपनयन होने से विद्वान, ज्येष्ठ मास में उपनयन होने से नीतिज्ञ तथा आषाढ़ मास में उपनयन होने पर जीवन में यज्ञयज्ञादि सम्पन्न करता है। किन्तु आषाढ़ मास में उत्तरायण में भी मिथुन राशि के सूर्य तक ही, जब कर्क राशि का सूर्य प्रारम्भ हो जाता है तो दक्षिणायन प्रारम्भ हो जाता है। मार्गशीर्ष में उपनयन करने वाला भ्रष्ट होता है। इन मासों के अतिरिक्त मासों में जिनका उपनयन होता है वह जीवन में सदा दुखी रहते हैं। यहीं आशय महर्षि नारद का भी है जो मुहूर्तचिन्तामणि में दर्शित है। मासों के साथ ही अधिकमास, मलमास, खरमास तथा गुरु, शुक्र का बाल्य, वृद्ध एवं अस्तावस्था वर्जित होना चाहिए अर्थात् यह ग्रह पूर्ण दृश्यमान हो। जिसमें चैत्र का खरमास जबकि गुरु की राशि मीन पर सूर्य होते हैं, उस समय अन्य शुभ कार्यों की शास्त्रीय वर्जना है किन्तु इस खरमास में केवल ब्राह्मणों का उपनयन प्रशंसित एवं श्रेष्ठतम है।[130]

उपनयन के नक्षत्रों एवं तिथि आदि के सम्बन्ध में

---

[130]**मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 250-51**

मुहूर्तचिन्तामणि का वचन है-

क्षिप्रध्रुवाहिचरमूलमृदुत्रिपूर्वारौद्रेऽर्कविगुरुसितेन्दुदिन व्रतं सत्।
द्वित्रीषुरुद्ररविदिक्प्रमिते तिथौ च कृष्णादिमत्रिलवकेऽपि न चापरान्हे।।

अर्थात् क्षिप्र (अश्विनी, पुष्य, हस्त), ध्रुव (रोहिणी, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराभाद्रपदा, उत्तराषाढ़ा), अश्लेषा, चर (श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पुनर्वसु तथा स्वाति), मूल, मृदु (अनुराधा, चित्रा, मृगशिरा, रेवती) तीनों पूर्वा (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा, पूर्वाषाढ़ा) तथा आर्द्रा नक्षत्रों में व्रतबन्ध करना उत्तम कहा गया है। उपनयन के लिए इन्हीं मुहुर्तों की पुष्टि मुहूर्त्तचिन्तामणि पीयूषधारा में उद्धृत वसिष्ठ, कश्यप, गुरु बृहस्पति के वचन से भी होती है। दिनों में रविवार, सोमवार, बुधवार, गुरुवार तथा शुक्रवार के दिनों में उपनयन का विधान है। तिथियों में द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी तथा द्वादशी तिथियाँ उपनयन के लिए प्रशस्त मानी गयी। ये तिथियाँ शुक्लपक्ष की होनी चाहिए। कृष्णपक्ष की प्रारम्भिक पंचमी-पर्यन्त द्वितीया, तृतीया एवं पंचमी ही मान्य है। उपनयन संस्कार पूर्वान्ह में ही होना चाहिए अपरान्ह में नहीं। अपरान्ह में किया गया

उपनयन व्यर्थ होता है।[131]

किस लग्न में उपनयन संस्कार श्रेष्ठ कहा जाता है, एतदर्थ मुहूर्त्तचिन्तामणि में उल्लेख है कि शुक्र की राशि वृष, तुला, गुरु की राशि धनु, मीन, चंद्र की राशि कर्क तथा बुद्ध की राशि मिथुन एवं कन्या इनमें कोई भी राशि शुभग्रह युक्त दृष्ट होने पर उपनयन का शुभ लग्न होता है। इसी आशय की पुष्टि पीयूषधारा में अतीव रमणीय ढंग से महर्षि वसिष्ठ के द्वारा भी की गयी है। उपनयन के लग्न पर विचार करने के साथ- साथ मुहूर्त्त के लग्नचक्र में केन्द्र (प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम), त्रिकोण (प्रथम, पंचम, नवम) स्थान में बलवान शुभग्रह एवं त्रिक (तृतीय, षष्ठ, एकादश स्थान) में पापग्रह की स्थिति लग्न की श्रेष्ठता सिद्ध करती है। अष्टम् एवं द्वादश स्थान में पापग्रहों की स्थिति अनिष्टकारी होती है।[132] बालक के उपनयन एवं बालिका के विवाह में गुरु का बलवान होना नितांत आवश्यक है। उपनयन में बालक की जन्मराशि से गुरु प्रथम, द्वितीय, पंचम, सप्तम् तथा नवम स्थान में श्रेष्ठ होता है तथा यदि तृतीय, षष्ठ एवं एकादश स्थान में गुरु हो तो उसकी शांति करके उपनयन एवं विवाह कर सकते हैं

[131]मुहूर्तचिन्तामणि, 5.40, पृ0 250-51
[132]मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 255

अर्थात् इन स्थितियों में गुरु पूजनीय होता है एवं चतुर्थ, अष्टम एवं द्वादश स्थान पर गुरु सर्वथा वर्जित है।[133]

उपनयन विधि

उपनयन शास्त्रीय नियमानुसार मण्डप स्थापन मुहूर्त्त के अनुसार एक-दो दिन पूर्व या उस दिन भी स्थापित किया जाता है। देशकाल रीति के अनुसार कतिपय भू-भागों में बटुक (जिसका यज्ञोपवीत होना है) को किसी सवर्ण निम्नजाति जैसे-यादव, भगत आदि परिवार में भेजकर एक दिन पूर्व भोजन करवाया जाता है तथा एतदर्थ उन्हें उपहार भी दिया जाता है। संभवत: यह इस बात को इंगित करता है कि यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न होकर द्विजत्व प्राप्ति हो जाने पर वह बटुक जीवन में पुन: अपने से निम्नवर्ग के साथ खान- पान का व्यवहार नहीं करेगा, जैसाकि प्राचीन काल में होता था। अब तो सर्वधर्मसमभाव का प्रभाव होने से यह सब बातें नगण्य हो गयी हैं। उपनयन संस्कार में सर्वप्रथम मुहुर्तानुसार यज्ञोपवीत का सम्पादन करने वाला पिता, पिता के अभाव में पितामह, पितामह के अभाव में

---

[133] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 261**

पिता का भ्राता (चाचा) तथा चाचा के अभाव में सहोदर भाई यज्ञोपवीत कर सकता है। इसके पश्चात् बटुक पिता से आज्ञप्त होकर, कहीं-कहीं लोकचार में बटुक माता के गोद में बैठकर संस्कार करने की अनुज्ञा प्राप्त कर मण्डप में प्रवेश करता है । ततः संस्कार सम्पादक अधिकारी उपनयन के पूर्व दिन या उसी दिन मण्डप में पवित्र आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर आचमन-प्राणायाम करके हाथ में अक्षत, पुष्पादि द्रव्य ग्रहण कर "आनोभद्रादि' स्वस्तिवाचन एवं मंगलसूचक गणेश का स्मरण कर संकल्प करता है कि-"अमुक गोत्र का मैं अमुक कुमार (नाम) किये जाने वाले उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन संस्कारों के पूर्वांग होने के कारण तदर्थ विहित स्वस्तिवाचन, पूर्णाहवाचन, मातृकापूजन, वसोर्धारापूजन, आयुष्मंत्रजप, नान्दीश्राद्ध (ऐसा श्राद्ध जो केवलल शुभ-कार्यों में किया जाता है) तथा निर्विघ्नता की सिद्धि के लिए गौरी-गणेश की पूजा करता हूँ। इस संस्कार के लिए बताये गये समय के अनुसार कालातिक्रम (समय बीत जाने के बाद) का प्रायश्चित पिता एवं पुत्र दोनों को करना होता है तथा अपनी कायिक, वाचिक, मानसिक तथा सांसर्गिक ज्ञाताज्ञात अशुद्धियों के निराकरण एवं संस्कार की अधिकारिता की प्राप्ति के लिए भी

प्रायश्चित करना पड़ता है। तत्पश्चात् बटुक को इतने बटुकों के साथ बैठकर जिनसे कि बटुकों की संख्या आठ हो जाए, उन्हें भोजन कराया जाता है एवं जिनका उपनयन किया जाना है ऐसे बटुक का वपन (क्षौर) कर्म किया जाता है। तत्पश्चात् बटुक के वेदाध्ययन की अधिकारिता के लिए उपनयन का संकल्प कर बटुक का शिखा सहित (सिर के चारों ओर थोड़ा केश समावर्तन के समय क्षौर के लिए छोड़ दिया जाता है) क्षौर के पश्चात् मंगलोद्ववर्तन (हल्दी आदि लगाना) किया जाता है। इसके पश्चात् स्नान कर बटुक आचार्य के समीप आता है। अग्नि स्थापन कर आचार्य उसे ब्रह्मचारी (ब्रह्म कर्म के आचरण का स्वभाव जिसका हो उसे ब्रह्मचारी कहते हैं) बनाकर कौपीन (वस्त्र) धारण कराता है।[134] मनुस्मृति के अनुसार "वसीरन्नानुपूर्येण शाणक्षौमाविकानि च" अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मचारी को सन, क्षत्रिय ब्रह्मचारी को रेशम तथा वैश्य ब्रह्मचारी को ऊन का वस्त्र धारण करना चाहिए।[135] उपनयनपद्धति के अनुसार इन वस्त्रों के अभाव में कपास का वस्त्र तो सभी ब्रह्मचारी के लिए मान्य है। ऐसे ही ब्राह्मण का वस्त्र श्वेत, क्षत्रिय का वस्त्र

---

[134] **शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 19-22**
[135] **मनुस्मृति, 2.41**

मौन्जिष्ठ (लाल काला मिश्रित) तथा वैश्य का वस्त्र पीला एवं इन रंगों के अभाव में पीत वस्त्र सभी के लिए शुभ है।[136]

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी को खड़ा करके आचार्य उसे मेखला धारण कराते हैं। **"ॐ इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती मआगात् ।। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्।।"** अर्थात् यह बाँधी जाने वाली परम पवित्र मेखला तुझे पवित्र करे तथा प्राण, अपान पंचप्राणों से तुझे बल प्रदान करती हुयी भगिनी की तरह सौभाग्य प्रदान करे । आचार्य द्वारा यह मंत्र बोला जाता है।[137]मनुस्मृति के अनुसार, ब्राह्मण की मेखला मूंज की तीन लड़ की, क्षत्रिय की मेखला मुर्गा (प्रत्यंचा) तथा वैश्य की मेखला सन् की होनी चाहिए। यदि इनकी मेखला उपलब्ध न हो तो ब्राह्मण की मेखला कुश, क्षत्रिय की मेखला शमन्तक तथा वैश्य की मेखला बल्वज (बेल) की होनी चाहिए। मेखला तीन लड़ की तथा इस पर एक, तीन अथवा पांच प्रवर के अनुसार गांठ होनी चाहिए।[138] इसे यज्ञोपवीत के समान ही त्रिवलीकृत (तीन बार) कर कटिप्रदेश में बांध देना

---

[136]**शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 22**
[137]**पूर्वोक्त, पृ0 22**
[138]**मनुस्मृति, 2.42-43**

चाहिए तथा वह त्रिवलीकृत मेखला समान होनी चाहिए अर्थात् कहीं मोटी कहीं पतली नहीं होनी चाहिए । यही मत आश्वलायनगृह्यसूत्र का भी है।[139]

मेखला धारण के पश्चात् बटुक के द्वारा अपने उपनयन कर्म विषयक सत् संस्कार की प्राप्ति, द्विजत्व सिद्धि, वेदाध्ययन अधिकार सम्प्राप्ति, यज्ञोपवीत धारण करने तथा श्री भगवान् सूर्य नारायण की प्रसन्नता के लिए यज्ञोपवीत सहित अष्टभाण्ड, अक्षत, दक्षिणा के साथ संकल्पपूर्वक विभिन्न ब्राह्मणों को दान किया जाता है। ततः आचार्य यज्ञोपवीत को हाथ में लेकर **"ॐ आपोहिष्ठा"** इत्यादि मंत्र से प्रक्षालित कर बायें हाथ पर यज्ञोपवीत को रखकर दाहिने हाथ के अंगूठे से ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मंत्रों का उच्चारण करते हुए यज्ञोपवीत को हाथ पर घुमाता है। पुनश्च यज्ञोपवीत किसी पात्र में रखकर उसके नौ तन्तुओं (सूत्रों) में क्रमशः ओंकार, अग्नि, नाग, सोम, इन्द्र, प्रजापति, वायु, सूर्य एवं विश्वेदेव देवताओं का विन्यास कर यज्ञोपवीत भगवान सूर्य को दिखाता है। तत्पश्चात् यज्ञोपवीत अपने हाथ में रखकर दस बार गायत्री मंत्र से अभिमंत्रित कर

[139] **आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.17.10**

“ऊँ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुंचशुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।।
यज्ञोपवीतमसियज्ञस्यात्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।।”
अर्थात् यह यज्ञोपवीत पूर्वोक्त प्रक्रियाओं के अनुसार परम पवित्र है तथा यह प्रजापति के साथ-साथ चला आ रहा है। यह आयु एवं उन्नति देने वाला है, इसलिए इस यज्ञोपवीत को शीघ्र ही मेरे स्कंध पर स्थापित करें। यह यज्ञोपवीत शुभ्र (उज्ज्वल) है इसलिए यह बल एवं तेज की वृद्धि करेगा। यज्ञोपवीत यज्ञ के लिए है इसलिए तुमको यज्ञोपवीत से बाँधता हूँ। यज्ञोपवीत धारण करने के मंत्र के तात्पर्य में बटुक के द्वारा आचार्य से यज्ञोपवीत धारण कराने का आग्रह है तथा इस मंत्र के उत्तरार्ध में आचार्य के द्वारा इस परम पवित्र सूत्र में बांधने का तात्पर्य यह कि तुम बटुक मेरे द्वारा इस सूत्र से आबद्ध होकर अग्रिम कर्म श्रद्धा एवं विश्वास से सम्पन्न करोगे। इस मन्त्र से आचार्य बटुक को यज्ञोपवीत धारण कराता है। शिष्टाचार लोकव्यवहार के अनुसार पांच व्यक्ति मिलकर यज्ञोपवीत पकड़कर कलश से स्पर्श कराकर बटुक को धारण कराते

हैं।[140]

यज्ञोपवीत निर्माण विधि

यज्ञोपवीत निर्माणविधि के सन्दर्भ में भगवान मनु के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास के सूत का, तीन लड़ का, क्षत्रिय का सन के सूत का तथा वैश्य का भेड़ के ऊन का होना चाहिए।[141]उपनयन पद्धति के यज्ञोपवीत पद्धति में उद्धृत रत्नमाला ग्रंथ में महर्षि देवल का मत है कि अच्छे पवित्र क्षेत्र में उत्पन्न कपास की रुई से ब्राह्मण, ब्राह्मण कुमारी कन्या या सौभाग्यवती स्त्री निर्मल सूत्र बनाकर अंगुलियों के मूल (चौड़ाई) पर 96 बार लेपटकर उसे त्रिगुणीतकर (तीन गुना), प्रदक्षिणावृत (आसन पर बैठकर दोनों घुटनों की गोलाई में घुमाना) से उस सूत्र को तीन भागों में बराबर समकर जहाँ दोनों खण्ड मिलेंगे वहीं पर जिसके जितने प्रवर हो, उतनी ग्रंथियां लगाकर बांध दिया जाता है। जिसको ब्रह्मग्रंथि कहा जाता है।[142] अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यज्ञोपवीत में 96 ही चप्पे या चावें क्यों होते हैं? 95 या 97 क्यों नहीं? इसका उत्तर हमारे

---

[140]शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 24
[141]मनुस्मृति, 2.44
[142]शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 24

शास्त्रों ने अनेक युक्तियों एवं उक्तियों से प्रदान किया है-

1- कोई भी साधना या आविष्कार उपयुक्त मात्रा में ही सफल होता है। रासायनिक विज्ञान में तो यह सुस्पष्ट है कि किन-किन मात्राओं में किन-किन तत्वों के संयोग से किसी पदार्थ का निर्माण होता है। कार्बनिक अणुओं से एक निश्चित मात्रा में पृथक-पृथक क्रम से ताप प्रदान करने पर पृथक- पृथक पदार्थों का आविष्कार होता है। समान मात्रा में मधु एवं घृत का संयोग विष बन जाता है। मात्रा की विषमता में नहीं बन पाता। जिससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी लक्ष्य की सिद्धि में निश्चित परिमाण ही कारण बनता है। फलस्वरूप ऐसी स्थिति में 96 चप्पा का यदि यज्ञोपवीत निर्माण किया जाता है तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं।

2- गायत्री वेदों की जननी है। वेद तथा वेद के मंत्रों में वैसे ही गायत्री व्याप्त है जैसे माता एवं संतानों की शरीर अलग-अलग होते हुए भी मांस, रक्त, मज्जा, मेधादि धातुओं के रूप में माता अपने संतानों की शरीर में भी सदा-सर्वदा व्याप्त रहती है। जिससे आनुवांशिक विशेषताओं एवं रोगों की

संभावना संततियों में भी प्रबल हो जाती है। ये सब बातें माता के रज से सम्बन्धित हैं जबकि पिता के वीर्य से सम्बन्धित गुण-दोष संततियों के शरीर में विद्यमान रहता है।[143] इसी से परम्परागत रोग जैसे मधुमेह आदि रोग माता-पिता को होने से संततियों को भी हो जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि गायत्री वेदमाता है तथा उसका उपदेश प्राप्त हो जाने के पश्चात् ही बटुक को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त होता है। इसको दृष्टिगत करते हुए यह 24 अक्षर का मंत्र है, जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष सभी पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला है। इस प्रकार 24 X 4 = 96 चप्पा होना सिद्ध पाया जाता है।

3- मानव शरीर पंचभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) इन पांचों की चार-चार तन्मात्र मिलकर 25 तत्वों से निर्मित हैं। जो सत्व, रज, तम गुणत्रय से सदा-सर्वदा व्याप्त रहता है। इस प्रकार 28 तत्व से मानव शरीर की निर्मिति हुयी है। इस 28 संख्यात्मक यह शरीर तिथि, नक्षत्र, वार, वेद, काल, मास तक का भोग करता हुआ संवत्सरपर्यन्त जीवनधारण करता है, ऐसा यह शरीर लक्ष्यहीन नहीं

---

[143] **सुश्रुत, शरीरस्थान, 3.33**

है। इस जीवन का एक-एक क्षण परमात्मा या परमतत्व के लिए है। यह जीवन मानव को परमात्मा के अद्भुत वरदान के रूप में ईश्वर द्वारा प्राप्त है। परमात्व तत्व का ज्ञान बिना वेदों के अध्ययन के संभव नहीं। अत: हमारे सतत् साधना सम्पन्न प्रत्यक्षदर्शी ऋषि एवं महर्षियों ने इसका साक्षात्कार कर मानव जीवन को सर्वथा परमात्म ज्ञान, वेद का आश्रय लेकर ब्रह्मप्राप्ति को जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य समझा। यदि उपर्युक्त सभी पदार्थों की संख्या का विनिश्चय किया जाए तो 96 ही होगा। यथा-25 तत्व + 3 गुण + 15 तिथि + 7 वार + 27 नक्षत्र + 5 वेद + 3 काल + 12 मास = 96 ही प्राप्त होगा। इस आशय से यज्ञोपवीत को 96 चावा ही होना चाहिए।

4- **"लक्षं तु चतुरो वेद लक्षमेकं तु भारतम्"** इस आप्तोक्ति में एक लाख वेद मंत्रों की संख्या तथा एक लाख महाभारत के श्लोकों की संख्या बतायी गयी है। वेदों में काण्डत्रय का उल्लेख है- कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ठ एवं ज्ञानकाण्ड । वेदों के एक लाख मंत्रों में 80000 कर्मकाण्ड, 16000 उपासनाकाण्ड तथा 4000 ज्ञानकाण्ड के मंत्र हैं। ज्ञानकाण्ड का उद्देश्य तत्वात्मक ब्रह्मचिंतन, ब्रह्मप्राप्ति एवं मुक्ति से

है। जब मनुष्य कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड की परिधि से बाहर होता है, तब संन्यास की स्थिति आने पर ज्ञानकाण्ड की उपयोगिता होती है जिसमें शिखा एवं सूत्र (यज्ञोपवीत) की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड के 80000 + 16000 = 96000 मंत्रों की उपयोगिता रह जाती है। उपासनाकाण्ड का सम्बन्ध प्रवृत्ि से है जबकि ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध निवृत्ति से है । जिससे यह ज्ञात होता है कि वेदों में 96000 मंत्र प्रवृत्ति से सम्बन्धित है तो 4000 मंत्र निवृत्ति से सम्बन्धित है। प्रवृत्ति के पश्चात् ही निवृत्ति होती है। जिससे निवृत्ति का अधिकार प्राप्त कर प्रवृत्ति से निवृत्त होना पड़ता है। जो प्रवृत्ति के 96000 मंत्रों के होने से 96 चावे की पुष्टि होती है।

निष्कर्षत: विभिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उपर्युक्त युक्तियों का अनुशीलन करने यही निश्चित होता है कि वेद धर्मशास्त्र से अनुमोदित एवं समर्थित यज्ञोपवीत धारण करना ही श्रेयष्कर होता है। पुन: एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यज्ञोपवीत के मूलसूत्र में त्रिसूत्र एवं उस त्रिसूत्र की वृत्ति (यज्ञोपवीत का आकार) देने में भी तीन ही

सूत्र जो नौ सूत्र का आधार ग्रहण करते हैं, ऐसा क्यों? यज्ञोपवीत में तीन संख्या का अत्यधिक एवं व्यापक महत्व है। लौकिकं, पारलौकिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक सर्वत्र तीन की संख्या व्याप्त है। जैसे - वेदत्रयी - ऋक, यजु, साम, लोक- भूलोक, अन्तरिक्षलोक तथा स्वर्गलोक, गुणत्रयी - सत्व, रज, तम, अग्नि गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं यज्ञोपवीत धारण करने की अवस्थाएं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ तीन ही है। जिससे यज्ञोपवीत का मूल त्रिसूत्र तथा यज्ञोपवीत के मूल आकार जिसमें मूल त्रिसूत्र के त्रिगुणित होने पर नौ तन्तु की स्थिति स्पष्ट होती है। जो यज्ञोपवीत के तीन सूत्र एवं त्रिवृत सर्वथा सुसंगत है क्योंकि यह समस्त त्रैलोक्य त्रिगुणात्मिका शक्ति से ही निर्मित है। जो सृष्टि के अणु- अणु एवं काल के कण-कण में व्याप्त है। यज्ञोपवीत के नौ तन्तुओं में नौ देवताओं का आवाहन सर्वथा इसे देवसूत्र सिद्ध करता है। प्रथम तन्तु में ऊँकार का आवाहन ब्रह्म की प्राप्ति में, द्वितीय तन्तु में अग्नि का स्थापन तेजस्विता, तृतीय तन्तु में अनन्तदेव का आवाहन धैर्य, चतुर्थ तन्तु में चंद्र का आवाहन आह्लादकता, पंचम तन्तु में पितृगण का आवाहन स्नेह, षष्ठ तन्तु में प्रजापति का

आवाहन प्रजा, परिवार के पालन की शक्ति, सप्तम तन्तु में वायु का आवाहन शुचिता, अष्टम तन्तु में सूर्य का आवाहन जीवन शक्ति तथा नवम तन्तु में सर्वदेव का आवाहन सभी शुभगुणों से सम्पन्नता प्रदान करता है। इसके सूत्र साधारण सूत्र नहीं है अपितु विधिपूर्वक शास्त्र सम्मत रीति से निर्मित होने पर ये नौ देवताओं के निवास स्थल बन जाते हैं। जो इन देवताओं के बताये गये फल से मानव के हृदय को सम्बल देते हैं। जो केवल प्रेम ही नहीं श्रेय के मार्ग को भी प्रशस्त करता है जिससे मनुष्य में नैतिक एवं चारित्रिक पवित्रता की आस्था भी उत्पन्न होती है। इससे मानव कुपथ से सुपथ पर अग्रसर होता है।

पुनः यह प्रश्न उपस्थित होगा कि इस ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) में ब्रह्मग्रंथि क्यों लगायी जाती है। पूर्व में यह बताया जा चुका है कि यज्ञोपवीत निर्माता 'ओंकार' (प्रणव) का उच्चारण करते हुये ही ब्रह्मग्रंथि लगावे। इस ग्रंथि से ब्रह्म का संकेत प्राप्त होता है। इसलिए इसको 'ब्रह्म-ग्रन्थि' कहा जाता है। यह समस्त जगतीतल ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म से ही अनुपालित है तथा ब्रह्म में ही विलीन होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है। यह समग्र विश्व प्रपंच

(विस्तार) ब्रह्म की ही छाया एवं माया है एवं इस विश्व के कण-कण में वह स्वयं व्याप्त है। वास्तविक ब्रह्मज्ञान हो जाने पर समस्त विश्व ही ब्रह्ममय हो जाता है। इस ब्रह्मतत्व को भूलकर ही प्राणीकाम, क्रोध, लोभ, मोह, द्रोह, ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ एवं पाखण्ड में निरत हो जाता है। इन मनोविकारों से स्मृति प्राप्त कर ब्रह्मज्ञान की स्मृति प्राप्त करने के लिए ही इस ब्रह्मग्रंथि का विधान है। लोक व्यवहार में भी किसी बात को समय पर स्मरण आने के लिए कुछ लोग वस्त्र में गांठ बांध लेते हैं। इस प्रकार यह ब्रह्मग्रंथि प्रणव (ॐ = अ + उ + म = अ से भगवान विष्णु, उ से भगवान शिव तथा म से भगवान ब्रह्मा एवं अ से परमात्मा, म से जीवात्मा एवं उ से दोनों का सम्बन्ध) इस तात्पर्य से एक शब्द में समाहित किया हुआ प्रणव सत्व, रज, तम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं पूर्वोक्त त्रिसंख्यक सभी का प्रतिनिधित्व करती है यह ब्रह्मगंथि। ब्रह्मग्रंथि में अपनी वंश परम्परा के गोत्र, प्रवर के अनुरूप तीन या पांच गांठ लगाने का तात्पर्य अपने पूर्व पुरुषों का सदा-सर्वदा स्मरण करना, उनकी तपश्चर्या एवं निष्ठा का अनुकरण करना है।[144] इन विधियों से निर्मित यज्ञोपवीत कंधे के ऊपर से नाभि का स्पर्श

[144]साभार, स्व0 गणपति शास्त्री

करता हुआ कटि तक जाए, ना कटि के ऊपर होना चाहिए, ना ही कटि के नीचे होना चाहिए। जो केवल नाभि तक हो ऐसा यज्ञोपवीत धारण नहीं करना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रयोग देखने पर 96 चावा का यज्ञोपवीत ठीक कटि पर्यन्त ही होता है न छोटा, न बड़ा। यज्ञोपवीत के सूत्रों की स्थूलता (मोटाई) के विषय में कहा गया है कि सरसों के दाने से अधिक स्थूल या सूक्ष्म नहीं होना चाहिए। उसका सूत्र यदि सरसो के दाने से स्थूल होगा तो धारण करने वाले की कीर्ति की क्षति होती है तथा उससे सूक्ष्म धारण करने वाले की आर्थिक स्थिति प्रभावित होती है। व्यावहारिक रूप से अधिक मोटा यज्ञोपवीत देखने में भी भद्दा लगता है। ऐसा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए जो निश्चित नाप से लम्बा या छोटा न हो। टूटा हुआ, मलीन तथा भाजन करने के बाद बनाया गया यज्ञोपवीत धारण नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचारी एक, स्नातक दो या अनेक, उत्तरीय के निमित्त धारण करना हो तो तीन, वस्त्र के अभाव होने पर चार, श्रौतस्मार्त कर्म में दो तथा दीर्घायु की कामना से अनेक यज्ञोपवीत भी धारण कर सकते हैं। गृहस्थ तो दस यज्ञोपवीत भी धारण कर सकते है।[145]

[145]**शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 24**

यज्ञोपवीत के पश्चात् आचार्य दो बार आचमन करके मौन होकर ब्रह्मचारी को 'अजिन' (चर्म) धारण कराता है। मनुस्मृति के अनुसार- काले: मृग या मृगी का अजिन ब्राह्मण, बिन्दुधारी मृग का चर्म क्षत्रिय तथा बकरे का चर्म वैश्य ब्रह्मचारी को धारण करना चाहिए।[146] इनके अभाव में भेड़ के बाल का कम्बल सभी वर्णों के लिए उपयुक्त है। आवरण के लिए उत्तरीय तथा उत्तरीय के अभाव में बताये गये चर्म का खण्ड भी धारण किया जा सकता है। वह खण्ड भी अखण्ड अथवा त्रिखण्ड तथा अड़तालीस अंगुल लम्बा तथा चार अंगुल चौड़ा हो। ब्राह्मण के धारण करने वाला अजिन चौबीस, आठ या सोलह अंगुल लम्बा हो अथवा चौबीस अंगुल का एक ही हो। इस प्रकार अड़तालीस अंगुल (24 +16+ 8 = 48) लम्बा अजिन धारण करना चाहिए। अंगुल का नाप उपनयन होने वाले बटुक का होना चाहिए। कुछ स्मृतियों में अजिन के स्थान पर दो वस्त्र सफेद अथवा लाल वर्णित है। जिस वर्ण के लिए जो वस्त्र है उस वस्त्र के बने सूत्र भी धारण कर सकते हैं।

इसके पश्चात् आचार्य बटुक के सिर के बराबर पलाश वृक्ष का दण्ड मौनपूर्वक (बिना मन्त्र पढ़े) बटुक को प्रदान करता है। दण्ड धारण करने का जो

[146]**मनुस्मृति, 2.41**

मंत्र है उसका तात्पर्य यह है “जो दण्ड मुझे आचार्य के द्वारा प्राप्त हुआ है वह दण्ड आकाश या भूमि पर आने वाले किसी आक्रमक (जीव, पक्षी आदि) से मेरी रक्षा करेगा इसलिए मैं इसे धारण करता हूँ। इससे आयु की वृद्धि, ब्रह्म एवं ब्रह्मतेज की प्राप्ति होगी।” दण्ड के विषय में पद्धति के अनुसार पलाश का दण्ड ब्राह्मण, बेलवृक्ष का दण्ड क्षत्रिय तथा उदुम्बर (गूलर) का दण्ड वैश्य ब्रह्मचारी को धारण करना चाहिए। वह दण्ड अंगूठे जितना चिकना (बिना ऊभरी गांठ का), देखने में सुंदर, छिलके सहित जो अग्नि में जला न हो, ऐसा होना चाहिए। ब्राह्मण का दण्ड पैर से ललाट के अन्तिम बाल के बराबर, क्षत्रिय का पैर से लेकर लालाटपर्यन्त लम्बा तथा वैश्य का पैर से लेकर नासिकापर्यन्त होना चाहिए।[147]इसी मत की पुष्टि मनुस्मृति द्वारा भी गयी है।[148] मनुस्मृति तथा पद्धति में दण्ड का विकल्प नहीं मिलता है जबकि निर्णयसिन्धु ग्रंथ में वर्णित है कि यदि क्रमशः तीनों वर्णों के लिए निर्धारित वृक्षों का दण्ड सुलभ न हो सके तो किसी यज्ञीय वृक्ष (पलाश, पीपल, वट, खैर, चिचिड़ा, उदुम्बर या गूलर, बेल, चंदन, सरल आम, शाला या शाखू, देवदार) का

[147]शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 25
[148]मनुस्मृति, 2.46-47

दण्ड कोई भी वर्ण का ब्रह्मचारी धारण कर सकता है। ऐसा महर्षि गौतम का मत है ।[149]

तत्पश्चात् आचार्य अपनी अंजलि से जल उठाकर बटुक की अंजलि में देकर निर्देश करता है कि इस जल को अपने ऊपर प्रक्षेप करो तथा ऊपर दृष्टि करके सूर्य के दर्शन करो। सूर्यदर्शन के मंत्र का तात्पर्य है कि- "सूर्य ही जगत का चक्षु (नेत्र या मार्गदर्शक) है तथा वह अग्रसर होकर सत्वगुणसम्पन्न देवतुल्य विद्वानों का हितकारक है। ऐसे हे प्रभू! ऐसी कृपा करें कि हम सौ शरद ऋतुओं तक आपको देखते रहें, जिससे कि मैं भी सौ वर्ष तक जीवन धारण कर सकूं तथा सौ शरदों तक आपके मधुर, मनोहर, मंगलमय गुणानुवाद (गुणों का वर्णन) श्रवण कर सकें। सौ शरद ऋतुओं तक मैं अदीन याचक न रहुँ, आपकी कृपा से सब सम्पन्नता रहे। पुन: सौ शरद तक अपनी याचना की पुनरावृत्ति करता रहूँ।" इस मंत्र का विद्वानों के द्वारा सूर्य के अलावा ब्रह्मपरक तात्पर्य भी निकाला जाता है। पुनः आचार्य बटुक के अंगों का स्पर्श करता है। बटुक के दाहिने कंधे से हृदय का स्पर्श करते हुए कहता है, **"ऊँ ममव्रते ते हृदयं दधामि"** अर्थात् मैं

149 **निर्णयसिन्धु, पृ0 407**

अपने हृदय में तुम्हारे हृदय को स्थापित करता हूँ। मेरा चित्त तुम्हारे चित्त में हो तथा तुम्हारा चित्त मेरे चित्त में हो, जिससे मेरी वाणी को, मेरे द्वारा दिये गये ज्ञान को तुम एकचित्त होकर ग्रहण करो। इस प्रतिज्ञा के अनुरूप तुम्हे परमात्मा स्वरूप बृहस्पति ने मेरे लिए नियुक्त किया है। यह मन्त्रार्थ आचार्य एवं शिष्य में अनुशासन की एकरूपता का प्रेरक है। इस मंत्र से आचार्य बटुक का दाहिना हाथ पकड़कर उससे पूछता है-

आचार्य-तुम्हारा क्या नाम है?
ब्रह्मचारी- आपना नाम बताता है।
आचार्य-तुम किसे ब्रह्मचारी हो?
ब्रह्मचारी- आपका
आचार्य-तुम परम एश्वर्यसम्पन्न इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, सर्वदा अग्रसर रहने वाली अग्नि तुम्हारा आचार्य है तथा मैं भी तुम्हारा आचार्य हूँ। जैसी भावना तुम इनके प्रति रखते हो, उसी भावना से तुम मुझे आचार्य मानो।

ऐसा बोलकर आचार्य सभी दिशाओं की ओर निर्देश करता है। तत्पश्चात् आचार्य ब्रह्मा का वरण कर कुशकण्डिका (वेदीकर्म, वेदी निर्माण से

सम्बन्धित समस्त कर्म) पर बटुक से उपनयन व्रत के लिए निर्धारित मंत्रों का हवन कराता है। हवन पूर्ण हो जाने पर आचार्य बटुक को अनुशासन की शिक्षा देता है।

आचार्य - तुम ब्रह्मचारी हो?

ब्रह्मचारी - मैं ब्रह्मचारी हूँ ।

आचार्य - तुम आचमन करना।

ब्रह्मचारी - मैं आचमन करूँगा।

आचार्य - तुम वेदविहित, शास्त्रविहित कर्म करना। -

ब्रह्मचारी - करूँगा।

आचार्य - दिन में मत सोना।

ब्रह्मचारी - नहीं सोऊँगा।

आचार्य - अपने मुख से उत्तम वचन, शुभ वचन बोलना तथा शास्त्रवेदादि ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करना।

ब्रह्मचारी - करूँगा।

आचार्य- तुम मेरे लिए समिधा लाना।

ब्रह्मचारी - लाऊँगा ।

आचार्य - तुम आचमन करना।

ब्रह्मचारी - करूँगा।

तत्पश्चात् बटुक अग्नि के उत्तर तरफ पश्चिम मुख होकर बैठे हुए आचार्य के चरणों को पकड़े हुए, आचार्य का दर्शन करते हुए, आचार्य द्वारा भी स्वयं

देखे जाते हुए शंख, भेरी आदि वाद्यों को निवारित करते हुए आचार्य सावित्री का आवाहन करते हैं। सर्वप्रथम आचार्य कांसे के पात्र में तण्डुल (चावल) फैलाकर उसके ऊपर स्वर्ण शलाका के द्वारा ओंकार सहित व्याहृतिपूर्वक गायत्री मंत्र को लिखकर संकल्पूर्वक गायत्री का पूजन कर लेने पर ब्रह्मचारी भी यह कहते हुए हैं कि अमुक गोत्र, अमुक नाम, मेरे ब्रह्मतेज सिद्धि के लिए, वेदाध्ययन अधिकार प्राप्ति के लिए गायत्री उपदेश में अंगभूत गायत्री, सावित्री, सरस्वती एवं आचार्य की पूजा करता हूँ तथा इन पूजनीय चारों का विधिवत आवाहन कर प्रतिष्ठा मंत्र से इनकी प्रतिष्ठा कर गंधाक्षत द्रव्यों से बटुक द्वारा पूजा कर लेने पर आचार्य स्वयं एवं बटुक को वस्त्रावरण से आच्छादित कर यदि ब्राह्मण बटुक है तो उसके दक्षिण कण, क्षत्रियादि बटुक है तो उसके वामकर्ण में गायत्री मंत्र का उपदेश करते है तथा बटुक के द्वारा निर्धारित पांच मंत्रों से घी लगी हुयी लकड़ियों से हवन करवाते हैं। पुनश्च शिष्टाचार के अनुसार निर्धारित मंत्रों द्वारा शिर से लेकर पैरपर्यन्त सभी अंगों का आलम्भन (स्पर्श) करता है तथा त्र्यायुषकरण (अनामिका अंगुली के अग्रभाग से हवन के भस्म को बटुक के ललाट, ग्रीवा, दाहिने कंधे एवं हृदय पर आचार्य के द्वारा

लगाना) होता है। तत्पश्चात् बटुक अपने दोनों हाथों से अलग-अलग पृथ्वी का स्पर्श करते हुए अपने गोत्र, प्रवर एवं नाम का उच्चारण करते हुए अग्नि, वरूण, सूर्य और गुरु को प्रणाम करता है।[150]

तत्पश्चात् बटुक ब्रह्मचारी मिट्टी का भिक्षापात्र लेकर भिक्षा - प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम माता के निकट पहुँचकर ब्राह्मण बटुक '"भवति भिक्षां देहि" क्षत्रिय बटुक "भिक्षां भवति देहि" तथा वैश्य "भिक्षां देहि भवति" ऐसा कहकर भिक्षा याचना करते हैं तथा सभी अपने भिक्षापात्र से अक्षत देकर स्वास्तिवाचन कर भिक्षा लेकर आचार्य को समर्पित कर देते हैं।[151] बटुक द्वारा भिक्षा समर्पित हो जाने पर आचार्य के जीवन में ब्रह्मचर्य के पालन के नियमों का उपदेश करता है - "तुम्हें भूमि पर शयन करना चाहिए। दण्ड मृगचर्म धारण करना चाहिए। वन में गिरी हुयी समिधा को लाकर प्रातः सायं संध्योपासना करते हुए वेदी विधान तथा त्र्यायुषकरण यथाविधि करना चाहिए। गुरु की सेवा करनी चाहिए, सायं प्रातः भोजन के लिए समाज में दो बार भिक्षाचरण करना चाहिए। मद्य, मांस का सेवन नहीं करना चाहिए। नदी, तालाब के जल में डूबकर स्नान नहीं करना

[150] **शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 26-36**
[151] **मनुस्मृति, 2.49-51**

चाहिए अपितु पात्र से जल निकालकर स्नान करना चाहिए। कुश के आसन पर तकिया लगाकर नहीं सोना चाहिए। महिलाओं के मध्य नहीं जाना चाहिए। असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। दूसरे की वस्तु बिना उसके दिये नहीं लेना चाहिए। वेद तथा स्मृतियों में बताये गये यम, नियम का अनुष्ठान करना चाहिए। यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा नियम-शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय (वेदाशास्त्रादि का अध्ययन करना), ईश्वर प्रणिधान पहनने वाले वस्त्रों को बिना धोये नहीं पहनना चाहिए। फटे हुए, एक कपड़े में दूसरा कपड़ा जोड़ा हुआ, जिस वस्त्र का स्वरूप बदल गया हो ऐसे वस्त्र धारण नहीं करन चाहिए। सूर्योदय, सूर्यास्त होते समय भगवान सूर्य को नहीं देखना चाहिए। कठोर किसी की निंदायुक्त वचन नहीं बोलना चाहिए, सदा मधुर भाषण करना चाहिए। बासी खराब भोजन नहीं खाना चाहिए। कांसा, लोहा, एल्यूमिनियम के पात्र में भोजन एवं जलपान नहीं करना चाहिए। ताम्बूल नहीं खाना चाहिए। उबटन, आंखों में अंजन, जूता, छाता, दर्पण आदि ये सभी ब्रह्मचारियों के लिए वर्जित है।

आचार्य के उपदिष्ट नियमों का पालन करता हुआ ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का परिपालन करता है। इस

संस्कार के अंत में कुछ आचार्यों के मत में पूर्णाहुति करने का विधान है, किन्तु बहुधा आचार्य पूर्णाहुति का निषेध करते हैं। विवाह, उपनयन आदि संस्कार में कर्म समाप्ति पर पूर्णाहुति नहीं करना चाहिए किन्तु पारस्करगृह्यसूत्र में यह बात नहीं कही गयी है। प्रयोगरत्न ग्रंथ में यह बात कही गयी है। व्यवहारिक रूप से कुछ अज्ञजन पूर्णाहुति अज्ञानवश करा देते हैं किन्तु विद्वतजन विवाह, उपनयन, गृहप्रवेश आदि संस्कारों में पूर्णाहुति नहीं कराते हैं।[152]

स्त्री तथा शूद्र के उपनयन सम्बन्धी विचार

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के क्षेत्र में विभिन्न विचारकों एवं समाज सुधारकों के द्वारा परमश्रद्धा एवं विश्वास के सुदृढ़ धरातल पर अवस्थित यज्ञोपवीत संस्कार जैसे पवित्र संदर्भ में अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित किये जाते हैं, जो बहुत ही अनुपयुक्त एवं अनावश्यक है। जहां वेद तथा शास्त्र ईश्वर की वाणी होने के कारण सर्वथा-सर्वदा बिना किसी तर्क एवं युक्ति के मान्य है, वहां ये नव मानव आधुनिक सभ्यतावादी स्त्री एवं शूद्र का यज्ञोपवीत

---

[152] **शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 37-38**

करने की बात करते हैं तथा अनंतकाल से चली आने वाली परम्पराओं एवं मान्यताओं को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास करते हैं। वेदशास्त्रों एवं ऋषिमुनियों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को यज्ञोपवीत का अधिकारी माना वे अब इस आधुनिक युग में यज्ञोपवीत को भार समझने लगे। जबकि जिन्हें अधिकार ही प्राप्त नहीं है वे इसके कठोर नियमों एवं बंधनों की अनदेखी कर यज्ञोपवीत धारण करने का प्रयत्न कर रहे हैं। साम्प्रतिक प्रगतिशील समाज सुधारक मानव समुदाय के लोग यह भी तर्क प्रदान करते हैं कि जब ईश्वर सर्वव्यापक है, ईश्वर के बनायी हुयी वस्तुओं पर मनुष्य मात्र का अधिकार है। यथा-सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश इत्यादि। तब वेद एवं वैदिक उपनयनादि पर मानव मात्र का अधिकार क्यों नहीं है? इससे स्त्री एवं शूद्रों को वंचित किया गया है। ज्ञान विज्ञान से सम्बन्धित वैदिक विज्ञान एवं कल्याणकारी वैदिक संस्कारों पर मानवमात्र का अधिकार होना चाहिए। यह स्त्री तथा शूद्रों के प्रति एक प्रकार का अन्याय है तथा वेद के उस आदेश की अवहेलना भी जिसमें मानवमात्र के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया गया है। जैसे- "यथमां वार्च कल्याणी"[153] इत्यादि यजुर्वेद

[153] **यजुर्वेद, 26.2**

के मंत्र एवं अन्य साक्ष्यों से भी प्राचीन काल में सभी को उपनयन एवं वेदपाठ आदि वैदिक संस्कारों एवं कार्यों पर अधिकार प्राप्त था। स्त्री एवं शुद्रों के इन अधिकारों के लिए समाज में समाजसुधारकों एवं आधुनिक शिक्षा शिक्षित विचारकों की ओर से अनेक बार क्रांतिकारी प्रयत्न किये गये। कुछ लोग वेदशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के आधार पर इसका समर्थन करते हैं तो कुछ लोग वेदशास्त्र, धर्मशास्त्रादि मान्य ग्रंथों की प्रामाणिकता पर व्याघात कर उसे अमान्य मानते हुए अपना विचार व्यक्त करते हैं। इस तरह से यदि विचार किया जाये तो वेदशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराणादि मान्यग्रंथों में स्त्री एवं शूद्रों के उपनयन आदि संस्कारों की पुष्टि नहीं होती है। यहां इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि उपनयन तथा वेदाध्ययन का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। बिना उपनयन के वेदाध्ययन नहीं तथा बिना वेदाध्ययन के उपनयन की परिणति नहीं हो सकती। वस्तुतः यज्ञोपवीत इसलिए नितांत आवश्यक है क्योंकि उपनयनहीन व्यक्ति यज्ञ एवं वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित हो जाता है। जिससे यज्ञ एवं वेदाध्ययन भी यज्ञोपवीत पर ही आश्रित है। विशेष विशेषता तो यह है कि यज्ञोपवीत, यज्ञ एवं वेदाध्ययन परस्पर एकरस तथा एक-दूसरे के लिए सापेक्ष है। इन तीनों

में एक भी विधान तीनों के लिए है। एक का भी निषेध तीनों का निषेध है। अत: यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि यज्ञोपवीत में स्त्री एवं शुद्रों का सर्वथा अधिकार नहीं है। प्रमाणार्थ निम्न प्रमाणों का अध्ययन एवं अनुशीलन किया जा सकता है-

1- स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताँ पावमानी द्विजानाम।

अर्थात् द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को पवित्र करने वाली वेदमाता मेरे द्वारा स्तुत होकर मुझे ज्ञान की प्रेरणा दे।[154]

2- ब्रह्मचारी एति समिधासमिद्धः कार्ष्णेवसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।

अर्थात् मृगचर्म, मेखलाधारी दीर्घ श्मश्रुवाला ब्रह्मचारी यज्ञ के लिए समिधा लेकर आता है। (क्या महिला मृगचर्म, मेखला और दीर्घ श्मश्रु वाली होती है।)'[155]

3- अयं स होता यो द्विजन्मा । तस्मात् शुद्रो यज्ञेऽनवक्लृपतः।

अर्थात् जो द्विज माता- -पिता से उत्पन्न है वही 'होता' हो सकता है। इसलिए शूद्रों को यज्ञाधिकार

---

[154] **अथर्ववेद, 19.71.1**
[155] **अथर्ववेद, 11.5.6**

प्राप्त नहीं है।[156]

इन प्रमाणों के साथ ही कतिपय तथ्य और भी हैं जिससे यह स्पष्ट है कि स्त्री एवं शूद्र के उपनयन की शास्त्रीय स्वीकृति नहीं है। यथा-
1- पूर्व में उपनयन के मुर्हुत से सम्बन्धित संदर्भ में ब्राह्मण का उपनयन वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म तथा वैश्य का शरद ऋतु में होना चाहिए, ऐसा बताया। "ऋतूनाम कुसुमाकरः" अर्थात् ऐसी भगवान कृष्ण की उक्ति है कि मैं ऋतुओं में वसंत हूँ, वसंत ऋतु भगवान का एश्वर्य है। दैवीय सम्पदा सम्पन्न ब्राह्मण बटुक का उपनयन वसंत ऋतु में, तेजस्वी एवं शक्तिशाली क्षत्रिय बटुक का उपनयन ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य का प्रखर प्रकाश होता है तथा पोषण से सम्पन्न वैश्य बटुक का उपनयन शरद ऋतु में होने की बात शास्त्रों में कही है। इस संदर्भ में कहीं स्त्री एवं शूद्र के यज्ञोपवीत के लिए कोई ऋतु या काल दिग्दर्शित नहीं है।

2- यज्ञोपवीत की अवस्था का निश्चिय करने वाले मनु आदि ऋषियों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्ण के बटुकों का अवस्था का ही विनिश्चय

[156] **ऋग्वेद, 1.149.5**

किया है। स्त्री एवं शूद्र के यज्ञोपवीत के लिए कोई अवस्था नहीं बतायी है। इससे भी स्त्री-शूद्र के उपनयनाभाव की ही पुष्टि होती है।

3- वेद एवं शास्त्रों के अनुसार उपनयन संस्कार प्रारम्भ होने के पूर्व बटुक का क्षौर एवं मुण्डन कराकर यज्ञवेदी में आचार्य के समक्ष कर्मकाण्ड के अनुसार कौपीन, मेखला, मृगचर्म एवं दण्ड ब्रह्मचर्य के सूचक धारण कराये जाते हैं। कन्याओं को इस प्रकार मुण्डनादि करके क्या ये ब्रह्मचर्य के संकेत कौपीन आदि धारण कराये जा सकते हैं। कदाचित ऐसा कराया भी जाये तो इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण भी होना चाहिए। जैसाकि कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में इन कर्मकाण्डीय संस्कार प्रक्रिया के बिना भी इन्हें यदि यज्ञोपवीत धारण करा दिया जाये तो इन्हें ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति ऐसी ही होगी। जैसे बिना गोली के बन्दुक । यदि ऐसा किया भी जाये तो यह उपनयन का अभिनय मात्र होगा।

4- लौकिक दृष्टि से स्त्री के उपनयन संस्कार पर दृष्टिपात किया जाये तो भी इनका उपनयन अनौचित्यपूर्ण होगा, क्योंकि स्त्री का स्त्रीत्व प्रतिमास

उसे अपवित्र होने के लिए बाध्य करता है जिससे उपनयन के नियमों का पालन उनके द्वारा संभव नहीं हो सकता। प्रतिमास रजोधर्म होने पर तथा प्रसवकाल में बालकों के मलमूत्र आदि की स्वच्छता करने में प्राय: अपवित्रता का प्रभाव उनके साथ रहता है। जिससे यज्ञोपवीत की पवित्रता प्रभावित होगी एवं 'यज्ञोपवीतं परमम् पवित्रम्' इस यज्ञोपवीत धारण कराने की मन्त्रार्थ की हानि होगी। इससे भी स्त्री का उपनयन संस्कार नहीं होने की पुष्टि होती है।

5- प्रकृति से स्त्री को अबला कहा जाता है। पिता के स्वल्प शुक्र एवं माता के वृहद रज के प्रभाव से कन्या की उत्पत्ति होती है। जिन सप्तधातुओं से शरीर निर्मित है उनमें अंतिम धातु शुक्र हैं। शुक्र पर सोम का प्रभाव होने के कारण सौम्यता होती है। जबकि रज में अग्नि का प्रभाव होने के कारण उग्रता पायी जाती है। इसलिए शुक्र की अपेक्षा रज निर्बल होता है क्योंकि शरीर में अस्थि आदि कठोर धातुओं का निर्माण शुक्र से होता है एवं कोमल तत्वों का निर्माण रज से होत है। जिससे स्त्री में कठोरता, प्रबलता की अपेक्षा कोमलता का प्रभाव अधिक पाया जाता है। इसलिए उसे अबला कहा

जाता है। 25 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है जिसका निर्वाह पुरुष के द्वारा किया जाता है किन्तु स्त्री को 12 वर्ष की अवस्था से ही रजोधर्म होने लगता है। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है शुक्र निरोधपूर्वक सपरिश्रम कठोर व्रत का पालन एवं वेदादि शास्त्रों का अध्ययन। यदि स्त्री के द्वारा भी 25 वर्ष तक रजोनिरोध संभव होता तो शायद ब्रह्मचर्य का पालन उससे हो सकता था, किन्तु अनियंत्रित प्रकृति के प्रभाव से रजोनिरोध संभव नहीं। यदि कदाचित प्राकृतिक विक्रिया के कारण ऐसा हो भी जाये तो स्त्री जीवन की सार्थकता बाधित होगी, क्योंकि धर्मशास्त्र, पुराण एवं आयुर्वेद शास्त्र में रज को पुष्प कहा जाता है, पुष्प का सम्बन्ध फल से है। प्रथम पुष्प पश्चात् फल, प्रथम मेघ पश्चात् वृष्टि यही सृष्टि की स्वाभाविक प्रक्रिया है। जिससे स्पष्ट है कि स्त्री के द्वारा ब्रह्मचर्य के कठोर नियमों का पालन करते हुए उन वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कर पाना ब्रह्मचर्य के अभाव में संभव नहीं है। ब्रह्मचर्यावस्था में वेदादि शास्त्रों के अध्ययन के लिए यज्ञोपवीत के पश्चात् 25 वर्ष की अवस्था तक परिवार से पृथक गुरुकुल में रहकर अध्ययन करना होता है जो स्त्री के द्वारा किसी मूल्य पर संभव नहीं हो सकता। यदि कदाचित ऐसा

करने के लिए कोई स्त्री तत्पर भी हो जाये तो प्राकृतिक विक्रिया के कारण भावी प्रजनन भी प्रभावित हो जाता है। इसी प्रकार अन्तिम वर्ण (शूद्र) को ऋषियों-मुनियों ने सेवाकार्य में नियुक्त कर ब्रह्मचर्य नियमों के पालन एवं वेदाशास्त्रादि के अध्ययन जैसे कठोर कार्य से वंचित किया है।[157]

12. वेदारम्भ संस्कार

"विद्ययन्ते धर्मादयः पुरुषार्थ: ययिस्ते वेदा:' अर्थात् वेद वह विद्या है, जिसके ज्ञान से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त होता है। जिसका निर्गलित स्वाभाविक तात्पर्य "इष्ट प्राप्ति अनिष्ट परिहार्यो अलौकिकोपायम् यो वेदयति सवेद: " अर्थात् इष्ट (लक्ष्य) की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार का जो अलौकिक उपाय है, उसको वेद कहते हैं। ऋग्वेदभाष्यभूमिका प्रणयन परायण भगवान् सायण तो यह कहते हैं कि -

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।"

अर्थात् प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण के द्वारा जिस उपाय का ज्ञान नहीं होता है, उसका भी ज्ञान वेद

[157] **साभार, स्व0 गणपति शास्त्री**

के द्वारा हो जाता है। यही वेद की वेदता है।[158]सदा भारतभारत की समग्र धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक आदि सभी व्यवस्थाओं का मूल वेद ही रहा है। वेद ही समग्र ज्ञान-विज्ञान का उद्गम श्रोत है। वेद प्राचीन भारत के परम प्रामाणिक ग्रंथ है तथा स्वतंत्र रूप से प्रमाण है। वेदों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ये स्वतः प्रमाण है तथा नारायण के निश्वास से उद्भूत होने के कारण यह स्वयंभू एवं अपौरूषेय है।

उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदारम्भ संस्कार का प्रकरण उपस्थित होता है। अन्ध्याय (प्रतिपदा, अष्टमी एवं त्रयोदशी) रहित तिथियों एवं शुभ दिन को आचार्य ब्रह्मचारी को अपने निकट बुलाकर पवित्र आसन पर अपने उत्तर तरफ बैठाकर स्वयं आचमन, प्राणायाम कर देशकाल संकीर्तनपूर्वक विधिवत् संकल्प कर वेदज्ञानाधिकार संसिद्धिपूर्वक श्री परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए वेदारम्भ प्रारंभ करता है। तदंगभूत समुद्भव नामक अग्नि की स्थापना कर ब्रह्मा का वरण कर एतदर्थ निर्धारित मंत्रों से हवन कराता है । ततः शिष्टाचार एवं शास्त्रीय व्यवस्था के

[158]**ऋग्वेदभाष्यभूमिका, प्रथम संस्करण, पृ0 170**

अनुसार ब्रह्मचारी वेदाध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व पट्टिका के ऊपर पाँच स्थानों में अक्षतपूंज पर पूगीफल (सुपारी) रखकर पांच देवताओं का उनके मंत्रों से आवहान कर पूजन करता है। इन पांचो देवताओं में वेदपुरुष, श्रीगणेश, सरस्वती, विष्णु एवं लक्ष्मी की विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा कर शोऽषापचार से सम्पूजित कर पश्चिममुख उपविष्ठ (बैठे हुए) आचार्य के चरण को पकड़े हुए एवं उनके मुख का अवलोकन करते हुए निराभिमान होकर अपने हाथों को घुटनों के ऊपर स्थापित किये हुय ब्रह्मचारी के लिए आचार्य वेद का ज्ञान प्रदान करता है । सर्वप्रथम वेदमाता गायत्री को पढ़ाकर वेदाध्ययन प्रारम्भ करता है। वेदों में प्रथम यजुर्वेद, पुन: ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का अध्ययन करता है। स्वशाखा वेद के अनुसार अध्ययन करने के पश्चात् ही परशाखा वेद का अध्ययन करना शास्त्रसम्मत है। वेद एवं धर्मशास्त्र का अध्ययन भी बिना उसके अर्थ को समझे वैसे ही व्यर्थ है जैसे कुश (भूसी) का कण्डन (कूटना) कर चावल नहीं पाया जा सकता। वेदाध्ययन कर वेद के क्षेत्र में प्रचार-प्रसार करना हो उसका मुख्य उद्देश्य होता है अन्यथा वेदाध्यायी 'शूद्रत्व को प्राप्त करता है। आचार्य से सम्यक वेदाध्ययन करने के पश्चात् वेद के स्वरों की विधि से

उच्चारण समझना उचित होता है अर्थात् वेदाभ्यास निरन्तर बना रहना चाहिए। ऐसा पराशर एवं मनु आदि ऋषियों का मन्तव्य है। इस प्रकार वेदाध्ययन कराकर आचार्य वेदारम्भ की सांगता (सफलता) हेतु यथाशक्ति ब्राह्मण भोजन एवं वेदारम्भ कर्म में ज्ञाताज्ञात एवं न्यूनाधिक्य (कम तथा अधिक) दोष के परिहारार्थ "“भूयसी दक्षिणाम्” का संकल्प कराकर भगवान नारायण का स्मरण करते हुए वेदारम्भक समाप्त कर देता है।[159]

13. केशान्त संस्कार

'केशानां अंत: केशान्त' अर्थात् इस व्युत्पत्ति के अनुसार केशान्त ऐसा संस्कार है जिसमें दाढ़ी, मूछ से लेकर चूड़ाकर्म के समान ही सिर तक के केशों का कर्तन किया जाता है। इसी का अपरपर्याय 'गोदान' है। "गाव: केशा दीयन्ते खण्डयन्ते यस्मिन इति केशान्तः' अर्थात् इसका भी वही तात्पर्य जो ऊपर लिखित है। एक अन्य व्युत्पत्ति " गवां दानं गोदानं" अर्थात् गाय का दान गोदान है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि संस्कारान्त में आचार्य के लिए

[159]**शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 40-45**

बटुक के द्वारा गोदान करके का विधान है।[160]

अथर्ववेद का वचन है कि **'श्रमश्रुवपत्वाय ... दीर्घायुत्वाय चक्षसे'** अर्थात् केशान्त कर्म करने से दीर्घायुत्व एवं तेज की प्राप्ति होती है। अथर्ववेद का एक सम्पूर्ण सूक्त ही केशान्त संस्कार से सम्बन्धित है।[161]

इस संस्कार के समय से सम्बन्धित मनुस्मृति का वचन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों को क्रमश: सोलह, बाइस तथा चौबीस वर्ष की अवस्था में केशान्त संस्कार करना चाहिए।[162] मुहूर्त्तचिन्तामणि पीयूषधारा के मत से केशान्त संस्कार सोलह वर्ष में चूड़ाकर्म के मुहूर्त्त पर ही सम्पन्न होता है। यथा- **"केशान्तं षाऽशे वर्षे चौलोक्तदिवसे शुभम्।"** वहीं इसी बात की पुष्टि महेश्वर के मत में होती है। वे भी चूड़ाकर्म के नक्षत्रादि में इसका मुहूर्त सुनिश्चित करते हैं।[163] केशान्त संस्कार में कर्मकाण्डीय कृत्य चूड़ाकर्म संस्कार के समान ही होते हैं।

14. समावर्तन संस्कार

---

[160] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 275**
[161] **अथर्ववेद, 6.68.2**
[162] **मनुस्मृति, 2.65**
[163] **मुहूर्तचिन्तामणि 5.60**

“सम्यक् आवर्तनं समावर्तन: ' अर्थात् ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर मौजी, मेखला आदि का सविधि त्याग कर गृहस्थाश्रम में लौटना समावर्तन शब्द का अर्थ है। जैसाकि उपनयन संस्कार से ही वैदिक क्रियाओं का प्रारम्भ हो जाता है। यही वह समावर्तन संस्कार है जिसे आज 'दीक्षान्त समारोह' या 'Canvocation' कहते हैं। किन्तु वैदिक एवं पौराणिक दीक्षान्त से आज के दीक्षान्त में बहुत अन्तर है। प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक दीक्षान्तो में ऐसे कल्याणमय उपदेश आचार्य द्वारा प्राप्त होते थे जिससे स्नातक के जीवन में वैदुष्य एवं सर्वोत्तम आचरण से आयुष्य की वृद्धि प्राप्त करते हुए अत्यन्त ही प्रशंसनीय, समाज के लिए दर्शनीय एवं सद्‌गुण सम्पन्न नागरिक बनने का सौभाग्य प्राप्त करते थे। वर्तमान के विद्यालय शिक्षणालय एवं विश्वविद्यालय की शिक्षा की अपेक्षा से प्राचीन गुरुकुल एवं ऋषि आश्रमों की शिक्षा में बहुत अंतर था।आज के संस्थानों में केवल राजकुमार जैसे छात्रों की ही शिक्षा हो सकती है जबकि प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में गुरुकुलों एवं ऋषि आश्रमों की शिक्षा महाराज, कुमार एवं परम निर्धन सभी की शिक्षा व्यवस्था एक साथ एक समान होती थी। यही कारण है कि महर्षि संदीपनी के आश्रम में यदि बलराम

कृष्ण सदृश राजकुमार अध्ययन करते थे तो सुदामा जैसे परम निर्धन ब्राह्मण कुमार भी शिक्षा प्राप्त करते थे, जैसाकि आज नहीं हो पा रहा है।

सविधि उपनयन एवं वेदारम्भ संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी अपनी शाखा के अनुसार अपने वेद का अध्ययन कर ब्रह्मचर्य समापन के समय शास्त्रानुसार समावर्तन संस्कार के लिए अग्रसर होता है, क्योंकि उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य ग्रहण कर वेदाध्ययन के लिए जो मौंजी, मेखला, मृगचर्म, दण्ड, कमण्डलु धारण करने के साथ-साथ अपने शरीर के नख, सिर के केश एवं श्मश्रु (मूंछ), कूर्च (दाढ़ी) आदि का छेदन भी केशान्त के पश्चात् जब तक समावर्तन नहीं होता, तब तक ब्रह्मचारी मौंजी, मेखला आदि का परित्याग या क्षौर क्रिया भी नहीं कर सकता है। उपनयन संस्कार में गुरु के द्वारा दिये गये उपदेश एवं नियमों सविधि पालन करता है जो कि ब्रह्मचर्यावस्था के मुख्य धर्म हैं। जिसके अन्तर्गत प्रतिदिन हवन, भिक्षाटन, भूमिशयन तथा गुरु सुश्रुषा भी है।[164]

संस्कारों का मुहूर्त्त से बहुत घनीभूत सम्बन्ध है। बिना ज्योतिषशास्त्रोक्त मुहूर्त्त एवं धर्मशास्त्रीय क्रिया के कोई संस्कार सम्पन्न नहीं होता। जिससे उपनयन

---

[164]**मनुस्मृति, 2.108**

के लिए बताये गये मुहूर्त्त पर ही यह संस्कार किया जाता है। यथा-**“व्रतोक्तदिवसादौ हि समावर्तनमिष्यते।।**[165]

यद्यपि निर्णयसिन्धु में भी यज्ञोपवीत के मुहूर्त्त और समावर्तन की बात कही गयी है किन्तु वहां मंगलवार तथा शनिवार को भी समावर्तन करने की बात भी लिखी है जो अन्यत्र कहीं भी किसी के मत में मान्य नहीं है। वहीं पर बौधायन के मत में भी उन्हीं नक्षत्रों की समावर्तन के लिए मान्यता है जो उपनयन मुहूर्त्त के नक्षत्र हैं। वहीं वसिष्ठ के मत में समावर्तन पूर्वान्ह में सम्पन्न होना चाहिए न कि अपरान्ह। यह संस्कार भी उपनयन की भांति उत्तरायण सूर्य में ही करने का विधान है किन्तु जिस प्रकार उत्तरायण में विहित संस्कार भी दक्षिणायन के वृश्चिक राशि के सूर्य की अवधि में ही सम्पन्न होता है। उसी तरह यह संस्कार भी वृश्चिक के सूर्य में सम्पन्न हो सकता है, क्योंकि वेदारम्भ के पश्चात् ब्रह्मचर्यपर्यन्त ब्रह्मचर्य के विधिवत् पालन में उसकी अवधि पूर्ण हो जाने पर तत्काल समावर्तन संस्कार सम्पन्न कर समावर्तन के नियमानुसार गार्हस्थ्य आश्रम स्वीकार कर लेना चाहिए। “अनाश्रमनितिष्ठेत’

[165] **मुहूर्तचिन्तामणि, 5.60**

अर्थात् बिना किसी आश्रम के नहीं रहा जा सकता। आश्रम में रहने की शास्त्रीय अवस्था के अनुसार एक आश्रम के पश्चात् दूसरे आश्रम में प्रवेश अवश्य हो जाना चाहिए। अतः ब्रह्मचर्य की समाप्ति के पश्चात् गार्हस्थ्य स्वीकार करना ही होता है। ब्रह्मचर्य के नियमों के निर्वाह में यदि कोई त्रुटि हुयी है तो उसके प्रायश्चित का भी विधान है। प्रायश्चित के पश्चात् ही समावर्तन हो सकता है। प्रायश्चित के पश्चात् ही समावर्तन हो सकता है। ब्रह्मचारी के लिए धर्म शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि (शारीरिक शुद्धि स्नान से होती है तथा मानसिक शुद्धि गायत्री आदि मन्त्रानुष्ठान एवं भगवतध्यान से होती है), संध्यावंदन, नित्यभिक्षा, कौपीन, यज्ञोपवीत, मेखला, दण्ड एवं अजिन धारण करना जितना आवश्यक है, उतना ही दिन में शयन, छत्र, चरणपादुका, माला, उबटन, शरीर में सुगन्धित द्रव्य का अनुलेपन, अंजन, द्यूत, नृत्य, गीत, वाद्य आदि में अभिरुचि नहीं होना भी आवश्यक है। ऐसी अभिरुचि से ब्रह्मचर्य कर्म का लोप माना जाता है जिसका समावर्तन के पूर्व ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम प्रायश्चित करके ही समावर्तन के लिए अग्रसर होना चाहिए।[166]

समावर्तन संस्कार प्रारम्भ करने से पूर्व ब्रह्मचारी

[166] **निर्णयसिन्धु, पृ0 419-20**

गुरु से अनुरोध करता है- “भो गुरौ ! अहं स्नास्ये” अर्थात् हे गुरुदेव! मैं स्नान करना चाहता हूँ। आचार्य स्नाही (स्नान करो) ऐसा कहकर स्वयं पूर्वमुख बैठकर आचमन (भगवान विष्णु के नाम ॐ केशवाय नमः से हाथ में जल लेकर मुख से पी जाना, ॐ केशवाय नमः से दोबारा जल पीना, ॐ माधवाय नमः से तीसरी बार जल पीना तथा ऊँ गोविन्दाय नमः से हाथ धोना, यह आचमन है), प्राणायाम (यौगिक क्रिया में नासिका से किया जाता है तथा लौकिक प्रक्रिया में भगवान विष्णु का ध्यान कर लेना ही प्राणायाम है) करके संकल्प करता है कि "मैं इस ब्रह्मचारी के गार्हस्थ्य आदि आश्रमों की प्राप्ति से श्री परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए समावर्तन संस्कार करता हूँ। इस समावर्तन संस्कार में विधिपूर्वक हवनार्थ अग्नि स्थापन भी कर रहा हूँ।” आचार्य तथा विधिवत अग्नि स्थापन एवं ब्रह्म का वरण कर समावर्तन संस्कार में उपयोगी वस्तुएं जैसे जल, समिधा, हरिकुश, जल से परिपूर्ण आठ घड़े, धौतवस्त्र, दही, तिल, नाई, स्नानार्थ जल, कनिष्ठा अंगुली के अग्रभाव जितना मोटा ब्रह्मचारी के अंगुल से 12 अंगुल लम्बा, सीधा जिसका छिल्का न उतरा हो, ऐसे गूलर का दन्तधावन, उद्वर्तन द्रव्य, स्नान के लिए उष्ण जल, केशर, चंदन, धारण करने के वस्त्र,

यज्ञोपवीत, पुष्पमाला, उष्णीष (पगड़ी या टोपी), कर्णालंकार (कुण्डल आदि), अंजन, आदर्श (शीशा), छत्र, उपान्ह (जूता) तथा वैणवदण्ड (बांस की छड़ी) ये समावर्तन के उपकरण हैं। इन उपकरणों को एकत्रित कर विधिवत कुशकण्डिका (वेदी निर्माण विधि) कर "ॐ प्रजापतये स्वाहा:" से पंचवारुणी होम कर "ॐ अन्तरिक्षाय ये लेकर छन्दोभ्यः स्वाहा" पर्यन्त यजुर्वेद "ॐ पृथिव्यै स्वाहा से लेकर छन्दोभ्यः स्वाहा" पर्यन्त ऋग्वेद, "ॐ दिवे स्वाहा से लेकर ऊ छन्दोभ्यः नमः" पर्यन्त सामवेद तथा "ऊँ दिग्भ्य: स्वाह:" से लेकर "ऊँ अनुमतये स्वाहा:" पर्यन्त अथर्ववेद के कुल मिलाकर चारों वेदों का हवन करता है। इसके पश्चात् समावर्तन कर्म की सांगता हेतु ब्रह्मा को पूर्णपात्र का दान कर मार्जन (अपने ऊपर जल छिड़के) करे। पुन: आचार्य के उत्तर भाग में बैठकर ब्रह्मचारी अपने दाहिने हाथ से कण्डा की पांच आहुति अग्नि में छोड़कर हवन कर्म का समापन करता है। पश्चात् अग्नि से सेंककर सात बार अपने मुख का मार्जन करें तथा बोले हे अग्निदेव ! मेरे शरीर की रक्षा करो मुझे आयु, तेज, वृद्धि, सूर्य मुझे मेधा (प्रतिभा), सरस्वती मुझे मेधा, अश्विनीकुमार मुझे मेधा प्रदान करें। इसके पश्चात् अग्नि के तपाये हाथ से अपने सिर से लेकर पैर

पर्यन्त सारे अंगों का आलम्भन करता है । पुनश्च दाहिने हाथ से क्रमश: मुख, नासिका, , चक्षु, श्रोत (कान), दोनों बाजूँ का स्पर्श करता है। अपने नाम, गोत्र का उच्चारण करता हुआ भगवान नारायण, भगवान सूर्यनारायण एवं आचार्य का अभिवादन कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करता है । तत: आचार्य वस्त्र आच्छादित जल से पूर्ण आठ कुम्भ (कलश) दक्षिणोत्त्तर क्रम से स्थापित करता है तथा उन कलशों के आगे कुशा फैलाता है। इन कुशों पर स्नातक उत्त्तरमुख बैठ आठ में छ: कुम्भों के जल से मंत्रपूर्वक तथा दो कलशों के जल से मौनपूर्वक अपने ऊपर सिंचन करता है। सिंचन कर अपने शिरोभाग से मेखला को निकालकर भूमि पर स्थापित कर देता है। इसी प्रकार अजिन तथा दण्ड भी उतारकर भूमि पर रखता है। भूमि पर रखकर भगवान सूर्य को प्रणाम कर दही एवं तिल मुंह में डालकर आचमन कर केश, दाढ़ी, मूंछ एवं नख आदि कटवाकर शीतल जल से स्नान कर गूलर दन्तधावन (दातून) कर पूर्व दिशा में फेंककर बारह बार कुल्ला कर तथा सुगन्धित द्रव्य सम्पूर्ण शरीर में लगाकर गर्म जल से स्नान करता है तथा शरीर पोछकर चंदन का अनुलेप कर मध्यमा एवं अनामिका ऊंगली से चंदन की उठाकर मुख एवं

नासिका का स्पर्श कर नेत्र, श्रोत्र का आलम्भ कर अंजलि में जल रखकर अपसव्य (यज्ञोपवीत को बायें कंधे से दायें कंधे पर) तथा दक्षिणमुख होकर "पितरः शुन्धध्वम्" यह बोलते हुए पूर्वमुख होकर दक्षिण दिशा में जल का त्याग कर देता है। । पुनः समन्त्रक दो यज्ञोपवीत सव्य होकर धारण कर चंदनादि का लेप कर मंत्रपूर्वक नवीन वस्त्र धारण कर, आचमन कर पुन: उत्तरीय धारण कर कण्ठ में पुष्पमाला तथा सिर पर उष्णीष (टोपी या पगड़ी) धारण कर प्रथम दक्षिण कर्ण पश्चात् वाम कर्ण में सुवर्ण कुण्डलादि अलंकरण धारण कर नेत्रों में अंजन लगवाकर, दर्पण में अपना मुख देखकर, पैरों में उपान्ह धारण कर, छाता, हाथ में बांस की छड़ी ग्रहण कर आचार्य के सम्मुख उपस्थित होता है।[167] उस समय ब्रह्मचर्य के कठिन एवं नीरस जीवन व्यतीत करने के बाद ये सभी वस्त्राभूषण धारण करने पर लगता है कि उसमें परम कल्याण सौन्दर्य के साथ-साथ नवजीवन प्राप्त कर वह नवमानव बन जाता है। उसी से द्विज अथवा द्वितीय जन्म की पुष्टि होती है। निर्णयसिन्धु में उद्धृत मनुस्मृति के मत में जूता, वस्त्र तथा अलंकार, उष्णीष आदि उपकरण किसी के द्वारा धारण किया हुआ नहीं

[167]**शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 45-53**

होना चाहिए।[168]

तत्पश्चात् आचार्य स्नातक को लौकिक जीवन में सभ्य, सुसंस्कृत नागरिक बनने के लिए बहुमूल्य उपदेश प्रदान करते हैं कि "शूद्रादि अस्पृश्य का स्पर्श नहीं करना चाहिए। नृत्य गीत, वाद्य आदि के लिए स्वयं अनुरक्त नहीं होना चाहिए, किन्तु दूसरों के द्वारा गाये जा रहे गीत, नृत्य एवं वाद्य को सुनने की इच्छा से किया जा सकता है। राग सहित गान स्वयं नहीं करना चाहिए। अगर कोई अति आवश्यक न हो तो रात को एक ग्राम से दूसरे ग्राम नहीं जाना चाहिए। अनावश्यक रूप से दौड़ना तथा तेज चलना नहीं चाहिए। कुंए में झांककर नहीं देखना चाहिए। वृक्ष पर आरूढ़ तथा आरूढ़ होकर फल नहीं तोड़ना चाहिए। जो मार्ग उचित न हो उस मार्ग से अनावश्यक नहीं जाना चाहिए। नग्न होकर स्नान नहीं करना चाहिए। पर्वत एवं गर्त (गड्ढा) को लांघकर नहीं जाना चाहिए। सदा प्रसन्न रहना चाहिए। किसी के लिए लज्जाजनक, खेदजनक अशुभ भाषण नहीं करना चाहिए। संध्याकाल अथवा सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय पर सूर्य रक्त बिम्ब

---

[168]**निर्णयसिन्धु, पृ0 420**

को देखना नहीं चाहिए। वर्षा में शरीर को ढ़ककर चलना चाहिए। रात्रि में घी या तेल के दीप को जलाकर ही भोजन करना चाहिए। जल में अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देखना चाहिए। जिस स्त्री के शरीर पर रोम न हो, जो उन्मत्त तथा पुरुष की आकृति वाली नपुंसक का उपहास नहीं करना चाहिए तथा उसके साथ अधिगम भी नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार गर्भिणी, स्वकुल को भी नहीं देखना चाहिए इत्यादि जीवन के लिए आवश्यक लौकिक उपदेश आचार्य से स्नातक के प्राप्त होते हैं।[169] तत्पश्चात् स्नातक आचार्यादि को समावर्तन की सांगता एवं कर्मनिष्पादन में त्रुटि, न्यू के निराकरण के लिए 'भूयसी दक्षिणा' का संकल्प करता है। स्नातक आचार्य को तिलक लगाकर आशीर्वाद प्राप्त करता है तथा अंत में भगवान विष्णु का स्मरण कर समावर्तन समाप्त होता है।

समावर्तन संस्कार में जिन अष्टकुम्भों से स्नातक के स्नान की बात कही गयी है उसका उद्देश्य अष्टमैथुन अर्थात् श्रवण (श्रृंगारिक बातों का श्रवण), कीर्तन (श्रृंगारास्पद व्यक्तियों की अनावश्यक चर्चाएं), केलि (श्रृंगारास्पद व्यक्तियों मिल जाने पर श्रृंगारिक क्रीड़ाएं करना), प्रेक्षाम (श्रृंगारिक व्यक्तियों की

---

[169] **शुक्लयजुर्वेदीयोपनयनपद्धति, पृ0 53-56**

उपस्थिति में एक-दूसरे को निरंतर देखना), गुह्यभाषण (दोनों को छिपकर गोपनीय बातें करना), स्पर्श (दोनों का परस्पर एक-दूसरे को बार-बार स्पर्श करना), चुम्बन तथा क्रिया-निवृत्ति (शारीरिक संभोग) ब्रह्मचर्यावस्था में नितान्त आवश्यक रूप से वर्जित किये गये थे। इनका आगामी गार्हस्थ्यादि आश्रमों में भी कठोरता से पालन होता रहे, इसका वह संकेत है।

विविध वस्त्रालंकार, माला तथा सुगन्धित द्रव्य, उष्णीष, छाता, जूता एवं छड़ी धारण करने की जो स्नातक के लिए व्यवस्था बतायी है उसका तात्पर्य सौन्दर्य वृद्धि, सामाजिक सम्मान एवं शरीर रक्षा भी निहित हैं। गृहस्थ जीवन में सामाजिक सम्मान के कारणों का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। सूक्ति है-"वास: प्रधानं खलु योग्यताया:" अर्थात् योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् इन उपयोगी वस्तुओं से शारीरिक सौन्दर्य एवं सामाजिक सम्मान बढ़ता है। महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जी भी इसके पक्षधर थे एवं अपने ललाट पर तिलक चंदन एवं सिर पर उष्णीष का अवश्य प्रयोग करते थे तथा दूसरों को भी ऐसे ही रहने की प्रेरणा देते थे। इन वस्तुओं की गृहस्थ जीवन में अत्यन्त उपयोगिता होने के कारण ही देवासुर संग्राम में समुद्रमंथन से निकले

चौदह रत्नों में लक्ष्मी रूपी रत्न भगवान विष्णु को इसलिए प्राप्त हुआ क्योंकि वे **"दामिनीद्युतिविनिन्दक स्वर्ण वार्णाम्बर दिव्य पीताम्बर"** अर्थात् बिजली की चमक भी तुच्छ करने वाले सोने के समान चमचमाता हुआ दिव्य पीले रंग का वस्त्र, कण्ठ में वैजयन्ती माला तथा वक्षस्थल पर कौस्तुभमणि धारण करते थे। जबकि भगवान आशुतोष शिवशंकर दिगम्बर को कण्ठ में सर्प की माला, सर्प का ही यज्ञोपवीत, कटि प्रदेश में चर्म एवं पूरे शरीर में चिता का भस्म लगा होने के कारण उन्हें विषकुम्भ प्राप्त हुआ है। स्नातक के जीवन में लम्बी अवधि तक ब्रह्मचर्यावस्था में इन सौंदर्यवर्धक उपकरणों का अभाव रहने के कारण कहीं गार्हस्थ्य जीवन में इनके प्रति अरुचि न हो जाये, इसलिए समावर्तन काल में आचार्य के द्वारा एक-एक वस्तु एवं पदार्थ को मंत्र के माध्यम से स्नातक को धारण कराया जाता है। जिससे कि उसकी रुचि बनी रहे तथा मंत्रों के चमत्कारी अर्थों का प्रभाव भी उसके जीवन में रहे।[170]

15. विवाह संस्कार

[170] **साभार, स्व0 गणपति शास्त्री**

“वहनम् वाहः विशेषेण वाहः विवाहः” अर्थात् 'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर विवाह शब्द की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार भारतीय हिन्दू विवाह वर एवं कन्या के द्वारा समग्र धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा पारिवारिक मान्यताओं का समुचित निर्वाह करते हुए दाम्पत्य जीवन का एक प्रबल एवं दृढ़तर संकल्प तथा अनुबन्ध है। विवाह के माध्यम से दोनों व्यक्ति सभी परिस्थितियों में समान विचारधारा एवं आचरण का परिपालन करते हुए मधुर दाम्पत्य जीवन जीने का दृढ़तर संकल्प लेते हैं। इसी प्रकार उद्वाह ‘उद्’ उपसर्गपूर्वक 'वह्' धातु से **'वहनम् वाहः उत्कृष्टतया वाहः उद्वाहः'** अर्थात् वेदोक्त रीति से समग्र वैवाहिक विधि का उत्कृष्ट रीति से सम्पादन करते हुए भावी जीवन के मर्यादित एवं सुसंस्कृत जीवन व्यतीत करने का प्रबलतम् अनुबन्ध या संकल्प है। विवाह के अन्य प्रमुख पर्यायवाची विवाह, परिणय[171], पाणिग्रहण[172], करपिडन, पाणिपिडन[173], उद्वाह[174] तथा समुद्वाह, उपयम आदि।

---

[171] **आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.7.6**
[172] **ऋग्वेद, 10.18.8**
[173] **विवाहोपयमौसमौ तथा परिणयोद्वाहदोपयामाः पाणिपीनम्। अमरकोश 2.7.56-57**
[174] **मनुस्मृति, 3.43**

विवाह संस्कार के पात्र वर तथा वधू होते हैं। वर का एक अर्थ श्रेष्ठ तथा द्वितीय अर्थ **'वं = अमृतंरीति = ददाति इति वरः"** अर्थात् जो युवक अपने गुणकला, कौशल, कार्यव्यवहार, नैपुण्य, सभ्यता एवं संस्कृति के परिपालन में प्रवीण सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण श्रेष्ठता एवं वरणीयता को प्राप्त कर परिवार तथा समाज में अमृत की वृष्टि करे, वह वर है।

इसी प्रकार **"वाधूनतीति वधूः"** अर्थात् जो पूर्वोक्त वर के वरणीय एवं प्रशंसनीय गुणों से स्वयं भी युक्त होकर वर तथा वर के परिवार तथा समाज को भी बांधकर रखे, उसे वधू कहा जाता है। इसी अर्थ के कारण ब्रज की गोपिकाओं को भी कृष्णवधू कहा जाता है। यतोहि (क्योंकि) उन आप्तकामा, सत्यकामा, पूर्णनिष्कामा, ब्रजरामा तथा ब्रजभामा गोपिकाएँ भगवान को अपने अनुपम प्रेमबंधन से बाँधने के सम्पूर्ण उन विशेषताओं से युक्त थीं जिससे भगवान आनन्दकंद यशोदानंद श्रीकृष्णचंद्र उनके प्रेमपाश में बंध गये थे। जिससे भगवान व्यास को श्रीमद्भागवत महापुराण में उन्हें कृष्णवधू लिखना पड़ा।[175] इसी प्रकार **"वं अमृतं धूलातिति वधूः"** अर्थात् जो अपनी सुंदरता, मधुरता, कार्यकुशलता,

---

[175]**श्रीमद्भागवत, महापुराण, 10.33.8**

व्यवहारनिपुणता गुण एवं कला की विशिष्टता आदि कारणों तथा अपने क्रियाकलापों से परिवार में अमृत का दोहन करे, उसे वधू शब्द से अभिहित किया जाता है। लोक में वर को दूल्हा एवं वधू को दुल्हन शब्द से सम्बोधित किया जाता दूल्हा एवं दुल्हन शब्द की मूल प्रकृति में 'दुर्लभ' शब्द समाया हुआ है। क्योंकि दुर्लभ शब्द से ही इन दोनों शब्द की निष्पत्ति होती है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से शब्द का प्रवाह नदी के प्रवाह की तरह अनवरत प्रवाहित होता रहता है। न जाने कब उसका प्रवाह किधर मुड़ जाएगा, कहा नहीं जा सकता है। इसी प्रकार शब्दों का भी प्रवाह देश, काल तथा पात्र के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। कोई शब्द किसी देश, काल तथा पात्र में किसी अर्थ में प्रचलित था जो किसी देश, काल तथा पात्र में किसी अन्य अर्थ में प्रचलित हो गया। भाषावैज्ञानिक मान्यता के अनुसार किसी शब्द में अक्षरों के परिवर्तित या लुप्त हो जाने या मुड़ जाने से उस शब्द की ऐतिहासिक तारतम्यताओं (उसके पूर्व अर्थ की क्षति नहीं होती है) में अंतर न आता हो तो ऐसा किया जा सकता है। ऐसे बहुत से शब्द जैसे- संस्कृत के शीतलता प्रदान करने वाले 'उन्दि' शब्द में उ को आगे कर दिया तथा इ को पीछे कर दिया तो उन्दि का 'इन्दु' हो

गया। जिसका अर्थ वही शीतलता प्रदान करना ही रहा। इसी इन्दु शब्द में द के उ का लोप कर, छोटी इ की जगह बड़ी ई कर देने से 'ईद' शब्द की निष्पत्ति होती है जो मुस्लिम सम्प्रदाय का एक पर्व है जिसमें इन्दु अर्थात् चन्द्रमा की ही प्रधानता है।

एवमेव दुर्लभ शब्द में पाणिनीव्याकरण के सूत्र "**हृक्रभोश्छन्दसि**' के अनुसार दुलर्भ के भ को ह हो गया तथा र को ल हो गया तो 'दुल्लह' शब्द बना तथा कहीं र का लोप होने पर 'दुलह' शब्द बनेगा। संस्कृत के 'रलयोरभेद:' इस नियम के अनुसार र एवं ल में अभेद सम्बन्ध होने से भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से उच्चारण की सुविधानुसार कहीं र काल तथा कहीं ल का र हो जाता है। जहां लोप नहीं हआ वहां र का ल होकर दुल्लह तथा दुल्लही हो जाता है। इसका ऐसा प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ग्रंथ मानस में किया है। । **"दुल्लह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माही।"** यहां गोस्वामी जी ने दुल्लह के प्रयोग में र का लोप न कर ल कर दिया तथा दुलही में र का लोप कर दिया। जिसका तात्पर्य है कि वर एवं वधू या दूलहा एवं दुलहन की स्थिति दुर्लभतम है क्योंकि कोई भी पुरुष एवं स्त्री एक ही बार वर तथा वधू बनते हैं। जीवन में फिर

यह स्थिति प्राप्त नहीं होती।[176]

वर तथा वधू की वरणीयता

वैवाहिक पृष्ठभमि में वर तथा वधू की योग्यता एवं वरणीयता पर विचार करना प्रासंगिक है। कैसे वर को कन्या प्रदान करनी चाहिए तथा कैसे वर को नहीं? ऐसे ही वर के द्वारा भी कैसी कन्या ग्राह्य होगी तथा कैसी ग्राह्य नहीं। इस पर विचार करना नितांत आवश्यक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में मुहूर्त्तचिन्तामणि पीयूषधारा में उल्लिखित चण्डेश्वर का मत है कि वर के कुल, शील (चरित्र), समर्थता, योग्यता, आर्थिक स्थिति, शरीर एवं आयु, इन सात बातों की सम्यक् समीक्षा करने के बाद ही उसे कन्या देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विचारणीय नहीं है। वहीं वसिष्ठ के मत से श्वेतकुष्ठी, कुष्ठी, अपस्मार (मूर्छारोग) से युक्त, ब्रह्महत्यारा, राजयक्ष्मा (टी0वी0) रोग से ग्रस्त, अंधा, बहरा, दूरदेश में रहने वाला, दूसरे पर निर्भर, द्यूत- पान में आसक्त को कन्या नहीं देना चाहिए। इन्हीं विशेषताओं में उन्मत्त, पतित, नपुंसक, सगोत्रज दोषको समायोजित करते हुए कात्यायन ने भी ऐसा अभिमत किया है। वसिष्ठ के ही मत में अत्यन्त

---

[176] **साभार, स्व0 गणपति शास्त्री**

निकट, अत्यन्त सुदूर, अतिधनाढ्य, अतिदरिद्र, वृत्तिहीन तथा मूर्ख इन छः को भी कन्या नहीं देना चाहिए। अतिदूरस्थ तथा विद्याहीन, मोक्षधर्म (सन्यास) का अनुसरण करने वाले, शूर तथा निर्धन को कभी कन्या नहीं देना चाहिए। गुणाढ्य अर्थात् गुण, कला, विद्या, वैदूष्य आदि विशिष्ट गुणों से युक्त वर तो सदा वरणीय होता है। उसे अवश्य कन्या देनी चाहिए।[177]

आपस्तम्बगृह्यसूत्र के अनुसार-बन्धु, बान्धव, परिवार से युक्त चरित्रवान, शुभलक्षण वाले, वेदाध्ययन से सम्पन्न, शारीरिक रूप से स्वस्थ्य वर का ही वरण करना चाहिए।[178]मानवगृह्यसूत्र एवं वाराहगृह्यसूत्र के अनुसार वित्त (धन), रूप, विद्या, बुद्धि तथा बान्धव इन पांच विशेषताओं से युक्त वर को कन्या देनी चाहिए।[179] इसी प्रकार मत्स्यपुराण के अनुसार कुल, जाति, अवस्था, रूप, ऐश्वर्य तथा समृद्धियुक्त वर द्वारा याचना न किये जाने पर भी कन्यापक्ष के द्वारा स्वयं प्रयत्न कर उसे कन्या देनी चाहिए ।[180] उपरलिखित संदर्भों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में कन्या के

---

[177]मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 290
[178]आपस्तम्बगह्यसूत्र, 1.3.20
[179]मानवगृह्यसूत्र, 1.7.6-7, वाराहगृह्यसूत्र, 10.5-7
[180]मत्स्यपुराण, 154.415

लिए ऐसे वर का अन्वेषण किया जाता था जो कुलीन, धनवान, बुद्धिमान, विद्वान, नवयौवन सम्पन्न, चरित्रवान, रूपवान एवं शुभलक्षण युक्त होने के साथ -साथ संरक्षकों, बन्धु-बान्धवों से युक्त मृदु स्वभाव एवं पराक्रम से युक्त हो। ये बतायी गयी विशेषताएं सभी एकत्र प्राप्त होना स्वर्ण सौरभ (सोने में सुगंध) संयोग की तरह है ऐसी स्थिति में सामान्यत: स्वास्थ्य सम्पन्नता एवं विद्वता को विशेष महत्व देना चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार ऐसे वर को कन्या प्रदान करने का विधान है जो परिपूर्ण पुंस्त्व सम्पन्न हो।[181] नारदस्मृति के अनुसार तो पुंस्त्व सम्पन्नता के परीक्षण के साथ ही चौदह प्रकार के नपुंसकों का भी उल्लेख किया गया है।[182] भगवान मनु के मत में ऐसे वर का भी कन्या के लिए चयन नहीं करना चाहिए जो हीनक्रियं (निष्क्रिय), निष्पुरुष (पुंस्त्वविहीन), निश्छन्द (वेद- विद्या विहीन), रोमश (बहुत रोम वाला), अर्शस (बवासीर से पीड़ित), क्षयरोग (टी0वी0), आमय (मन्दाग्नि से युक्त), अपस्मार (मूर्छारोग), कुष्ठी तथा श्वेतकुष्ठी इन दस प्रकार के वर ही नहीं उसके परिवार का भी सम्बन्ध के लिए चयन नहीं करना चाहिए।[183]कन्या के लिए

---

[181]**याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.55**
[182]**नारदस्मृति 12.12-13**
[183]**मनुस्मृति, 3.7**

वर के अन्वेषण में उपयुक्त तथ्यपूर्ण विचारों को ध्यान में रखना चाहिए, जिससे दोनों का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त मधुर एवं सुखमय हो। वर की उपर्युक्त सभी योग्यताओं के न प्राप्त होने पर भी कुछ विशेष योग्यताओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। सदोष वर का विवाह दोषयुक्त कन्या के साथ हो जाता है किन्तु निर्दोष वर का सदोष कन्या के साथ नहीं हो पाता, ना ही करना चाहिए। प्राचीन भारत में तो अयोग्य वर को सुयोग्य कन्या प्रदान करने पर अभिभावक को पापी तथा नरकगामी बताया है। प्राचीन आचार्यों ऋषि-महर्षियों के विचार वर-कन्या दोनों के सुखमय जीवन के लिए ही है।

विवाहार्थ वर के गुण दोषों पर विचार करने के साथ ही कन्या के भी गुणदोष, योग्यता-अयोग्यता पर भी विचार करना नितान्त आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में निर्णयसिन्धु में उद्धृत याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करने वाली, शुभलक्षणों से युक्त, अनन्यपूर्विका (विवाह के पूर्व किसी अन्य पुरुषों से सम्बन्ध न रखने वाली), सुन्दरी, असपिण्ड (अपने ही परिवार की सात पीढ़ी की न हो), युवती, निरोग, भ्रान्तिमति (जिसका भाई हो) तथा सगोत्र न हो। मनुस्मृति का मन्तव्य है कि

अपने सपिण्ड, माता- पिता के गोत्र की कन्या पत्नी बनाने व उससे समागम नहीं करना चाहिए। साथ ही कपिला (भूरे केश वाली), नादिकांगी (न अधिक अंग वाली हो), नातिलोमा (अत्यधिक रोम वाली), नालोमिका (रोमरहित शरीर वाली), रोगिणी (रोगी न हो), वाचारा (अधिक कटुभाषिणी), पिंगला (पीले नेत्र वाली) कन्या के साथ विवाह नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिस कन्या का नाम नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्प, सेविका (दासी) तथा भयंकर नामवाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। जो विकलांग न हो, कोमल एवं मनोहर नाम वाली, हंस तथा हाथी के समान गति वाली, जिसके रोम, केश तथा दांत छोटे हों, कोमल अंगवाली कन्या का वरण करना चाहिए। जिस कन्या का भ्राता न हो एवं पिता का ज्ञान न हो ऐसी कन्या का कन्या के धर्म की शंका से बुद्धिमान पुरुष विवाह के लिए चयन न करें। द्विजाति को अपने-अपने वर्ण की कन्या का ही चयन करना चाहिए। जो अपनी रुचि से कन्या का वरण करता है वो जिसका चाहें वरण करें।[184]

मुहूर्त्तचिन्तामणि पीयूषधारा में शातातप के मत से

[184]मनुस्मृति 3.5, 8-12

मृदुभाषिणी, न अत्यन्त गोरी, न अत्यन्त काली, सुंदर नेत्रों वाली कन्या का चयन करना चाहिए। वहीं पर विष्णुपुराण का उद्‌धृत वचन है कि जो मूंछ तथा दाढ़ी वाली, पुरुषाकृति, एकदम आंख गड़ा के देखने वाली, एकदम कृश अंगवाली, जिसके जंघे पर अधिक रोम हो, जिसकी गुल्फ (एड़ी) बहुत ऊँची हो, जिसके गालों पर इल्ला (मस्सा) हो, जो सदा अनावश्यक भी हंसती रहती हो, बुद्धिमान पुरुष को ऐसी कन्या का चयन नहीं करना चाहिए। इन सामुद्रिक शास्त्रीय कन्या दोष पर विचार करके ही कन्या का चयन होना चाहिए।[185]

वैवाहिक मेलापक

जब वर एवं वधू पक्ष परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय कर लें तो सर्वप्रथम वैवाहिक मेलापक पर विचार करने के पश्चात् ही लग्न का निश्चय करना चाहिए । मेलापक का तात्पर्य वर एवं कन्या के ग्रह एवं नक्षत्रों का मेल है। इस मेलापक का प्राचीन शब्द 'भकुट' है। भ का अर्थ नक्षत्र तथा कुट का अर्थ आच्छादन या मिलाना अर्थात् वर एवं कन्या दोनों के परस्पर एक-दूसरे के दोष को एक दूसरे के ग्रह एवं नक्षत्रों के गुण से

---

[185] **मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 289-90**

आच्छादित करना अर्थात् मिटाना भकुट शब्द का अर्थ है। इस प्रकार मेलापक दो प्रकार का होता है- **ग्रह मेलापक एवं नक्षत्र मेलापक ।**

ग्रह मेलापक-

ग्रह मेलापक के द्वारा मंगला- मंगली का विचार होता है। एक मंगला हो तो दूसरा मंगला अवश्य होना चाहिए। लग्न एवं चंद्र से एक, चार, सात, आठ, बारह स्थानों में मंगल के होने से जन्मपत्री मंगली हो जाती है। मंगलदोष के निवारण के लिए दोनों की जन्मपत्री में इन स्थानों में मंगल होना आवश्यक है तथा मंगल के साथ ही इन तथाकथित स्थानों में स्थित पापग्रहों की संख्या भी विचार करनी चाहिए। मंगल एवं पापग्रहों की संख्या का योग कन्या की अपेक्षा वर की जन्मपत्री में सम अथवा अधिक हो, तो अत्युत्तम ग्रह मेलापक समझा जाता है। यदि मात्र कन्या मंगली हो, वर मंगला न हो, कुछ विशेष स्थिति में विवाह करना ही पड़े तो कन्या के मंगल दोष निवारण के लिए कुंभविवाह, अश्वत्थ (पीपल) विवाह आदि समुचित निवारण करने के पश्चात् ही विवाह करना चाहिए।

ऐसे ही नक्षत्र मेलापक में दोनों के नक्षत्रों के मेल से अष्टकूट (वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री, गणकूट,

भकूट एवं नाड़ी) इन आठ बिन्दुओं का मेल देखा जाता है। इन आठों में एकाधिक गुण होते हैं, जिनका योग 36 गुणों का होता है। इन 36 गुणों में पचास प्रतिशत (18 गुण) होना अनिवार्य है। यों तो मेलापक अत्यधिक विस्तृत विषय है जिसका विस्तार करना संभव नहीं है।[186]

विवाह मुहूर्त्त

भारतीय संस्कृति में कोई भी कार्य बिना मुहूर्त के सम्पन्न नहीं होता। मुहूर्त्त शब्द का सामान्य अर्थ समय शुद्धि होता है। समय शुद्धि से तात्पर्य अधिकमास, मलमास, खरमास, गुरु एवं शुक्र की बाल्य, वृद्ध की तथा अस्तादि अवस्थाओं से विवर्जित शास्त्रानुमोदित मास, तिथि, वार प्रत्येक कार्य या संस्कार के लिए विहित नक्षत्र एवं वर के सूर्यबल, चंद्रबल तथा कन्या के चंद्रबल, गुरुबल अनुकूल की प्राप्ति वैवाहिक मुहूर्त्त है। मुहूर्त्त का गणितात्मक स्वरूप भी है। जो दिन एवं रात्रि के मान की गणितीय प्रक्रिया से सिद्ध होता है किन्तु उस पर यहां प्रकाश डालना विस्तार का भय उत्पन्न करता है। वेद धर्मशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र में भी मुहूर्त्त पर बहुत विस्तृत मत प्राप्त होते हैं। किसी काल में

---

[186]**मुहूर्तचिन्तामणि, 3.21, पृ0 306**

तो मुहूर्त्त की ऐसी मर्यादा थी कि सामान्य जीवन के छोटे-छोटे कार्य जैसे प्राचीन वस्त्र के फट जाने पर नवीन वस्त्र के धारण की बात भी मुहूर्त्त पर आधारित थी। जो मुहूर्त्त की मर्यादा आज भी महत्वपूर्ण संस्कारों में बनी हुयी है। हमारे वैदिक वाङ्मय एवं धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र में भी अट्ठाइस नक्षत्रों (साभिजित) के शुभ होने का प्रार्थना की गयी है।[187]

धर्मशास्त्रीय एवं ज्योतिषशास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार समावर्तन संस्कार के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय विवाह के लिए वर की अवस्था जन्म से विषम वर्ष एवं कन्या की अवस्था सम वर्ष होनी चाहिए। इन वर्षों में उत्तरायण एवं दक्षिणायन में मात्र वृश्चिक के सूर्य तथा मिथुन, कुम्भ, मकर, वृश्चिक, वृष, मेष इन राशियों पर सूर्य की स्थिति रहने से मास शुद्धि होती है। जो विवाह के लिए उपयुक्त मास कहे जाते हैं। मिथुन का सूर्य 14 जून से 14 जुलाई तक, कुम्भ का सूर्य 14 फरवरी से 14 मार्च, मकर का सूर्य 14 जनवरी से 14 फरवरी, वृश्चिक का सूर्य 14 नवम्बर से 14 दिसम्बर, वृष का सूर्य 14 मई से 14 जून तथा मेष का सूर्य 14

[187] **अथर्ववेद, 19.7-8**

अप्रैल से 14 मई तक होता है। इस आशय से मिथुन का सूर्य रहने पर आषाढ़ शुक्ल दसवीं पर्यन्त क्योंकि आषढ़ शुक्ल एकादशी से भगवान विष्णु का शयन हो जाता है तथा उनका प्रबोधनोत्सव (देवोत्थान एकादशी) कार्तिक शुक्ल एकादशी को होता है। हरिशयन की अवधि में वैवाहिक संस्कार वर्जित है। इसी प्रकार कुम्भ का सूर्य रहने पर फाल्गुन, मकर का सूर्य रहने पर माघ तथा मकर का सूर्य रहने पर पौष में भी विवाह हो सकता है, वृश्चिक का सूर्य रहने पर अगहन, वृष का सूर्य रहने पर ज्येष्ठ तथा मेष का सूर्य रहने पर वैशाख मास होता है। यदि चैत्र में भी मेष का सूर्य एवं पौष में वृश्चिक या मकर का सूर्य प्राप्त हो जाये तो इसमें भी विवाह संस्कार अनुमन्य है।[188]

ऐसा ही अभिमत वहीं मुहूर्त्तचिन्तामणि पीयूषधारा में वसिष्ठ का भी प्राप्त होता है। मास के सम्बन्ध ऐसा ही मत निर्णयसिन्धु में व्यास, नारद, वसिष्ठ, गर्ग, राजमार्तण्ड, आपतम्ब, बौधायन, कालादर्श, वात्स्यायन का भी है।[189] इसी के साथ-साथ मुहूर्त्तचिन्तामणि ग्रन्थ में मृगशिरा, हस्त, मूल, अनुराधा, रोहिणी,

[188] मुहूर्तचिन्तामणि, 6.12-13, पृ0 291-93
[189] निर्णयसिन्धु, पृ0 454-55

उत्तराषाढ़ा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपादा, स्वाति, मघा तथा रेवती, इन नक्षत्रों में विवाह करने की स्वीकृति दिया है। इन नक्षत्रों में रिक्ता तिथि (4,9,14), अमावस्या रहित तिथियों में शुभ दिन एवं शुभ लग्न में विवाह संस्कार शुभ होता है। ऐसा ही मत वहीं पीयूषधारा में उद्धृत वसिष्ठ एवं नारद का भी है।[190]इन्हीं वैवाहिक नक्षत्रों की श्रृंखला निर्णयसिन्धु में भी उपलब्ध है।[191]

जन्ममास, जन्मदिन, जन्मतिथि, जन्मनक्षत्र आदि में विवाहादि संस्कार या गर्भाधान उचित नहीं है। विशेषत: अपने पिता का प्रथम पुत्र या प्रथम पुत्री के विवाह के लिए। द्वितीय पुत्र या कन्या के विवाह में कोई निषेध नहीं है। इसके साथ ही तीन ज्येष्ठ (ज्येष्ठ वर, ज्येष्ठ कन्या एवं ज्येष्ठ मास) एक साथ नहीं होने चाहिए। तीन में एक ज्येष्ठ हो, दो कनिष्ठ हो अर्थात् ज्येष्ठ मास हो किन्तु वर तथा कन्या ज्येष्ठ न हो तो यह विवाह अत्युत्तम है। दो ज्येष्ठ हो तब भी ठीक है, किन्तु ज्येष्ठ मास सहित ज्येष्ठत्रय सर्वथा वर्जित है। वहीं पीयूषधारा में 'उद्धृत गुरु, वराह एवं गर्ग भी इसी मत की पुष्टि करते हैं।[192] इसी की पुष्टि निर्णयसिन्धु में उद्धृत चण्डेश्वर, रत्नकोश,

---

[190] मुहूर्तचिन्तामणि, 6.55, पृ0 344

[191] निर्णयसिन्धु, पृ0 471

[192] मुहूर्तचिन्तामणि, 6.14-15, पृ0 295

पराशर तथा मिहिर के मत से भी होता है।[193]

प्राप्त प्रसंगानुसार वर्ष, अयन, मास, तिथि, वार एवं नक्षत्र विचार के पश्चात् क्रम प्राप्त वैवाहिक लग्न पर विचार नितांत आवश्यक होने से यह बताना अनिवार्य है कि किन-किन लग्नों में विवाह संस्कार शुभ होता है। धनु, तुला, कन्या, मिथुन, मीन तथा वृष इन लग्नों में विवाह शुभ होता है। यदि इन लग्नों के नवांश काल में विवाह हो तो विशेष फलप्रद होता है।[194]लग्न यदि लग्नेश (अपने स्वामी) से युक्त तथा दृष्ट हो तो और भी उत्तमफल प्रदाता बन जाता है। अधिकांशतः रात्रि लग्न में विवाह संस्कार सम्पन्न होता है किन्तु कुछ विशेष प्रदेशों, स्थानों, स्थितियों में विवाह दिवा लग्न में भी करने की शास्त्रीय अनुमति है।

विवाह संस्कार की शास्त्रीय विधि विमर्श

विवाह एक परम पवित्र वैदिक संस्कार है। इसके अनेक पर्यायवाची शब्द है जो शास्त्रीय उल्लेखों के अनुसार पृथक-पृथक पारिभाषिक परिवेश में विवाह

---

[193]**निर्णयसिन्धु, पृ0 455**
[194]**मुहूर्तचिन्तामणि, 6.84, पृ0 371**

तथा उसके संस्कार के अन्तर्गत आने वाले संदर्भों की ओर इंगित करते हैं। विवाह संस्कार विधि के परिप्रेक्ष्य में यह बताना नितांत आवश्यक प्रतीत होता है कि विवाह संस्कार किस संस्कार से प्रारम्भ होकर किस संस्कार के पश्चात् उसका समापन होता है। इस प्रकार विवाह संस्कार के कुछ वे विशिष्ट घटक है जिनके आदि से अन्तपर्यन्त सम्पन्न होने के पश्चात् ही सम्पूर्ण विवाह संस्कार परिपूर्ण होता है। विवाह संस्कार के निम्नलिखित घटक है जो संस्कार की परिपूर्णता के लिए सभी संस्कार के आनुसंगिक (पूर्णता के सहयोगी) तदंगभूत संस्कार है।

1. वाग्दान

विवाह संस्कार उभय पक्ष (वर-कन्या पक्ष) के द्वारा एक-दूसरे पक्ष का सम्परीक्षण कर उभय पक्ष की संतुष्टि के आधार पर मुहूर्त, लग्नादि का निश्चय हो जाने पर वाग्दान (उभय पक्ष के द्वारा परस्पर सम्बन्ध करने के निश्चय का वचन स्वीकार करना) होता है। इसे वररक्षा एवं कन्यारक्षा भी कहा जाता है, क्योंकि वरपक्ष से संतुष्ट हुआ कन्यापक्ष वचन का आदान-प्रदान करने के पश्चात् वर को अपनी कन्या के विवाह के लिए शुभ मुहूर्त्त में रक्षित (रोका) कर लेता है। जिसे वररक्षा कहते हैं। तत्पश्चात् वरपक्ष के

द्वारा रक्षित वर के साथ कन्या को भी रक्षित कर लिया जाता है, जिसको शास्त्रीय भाषा में कन्यावरण (व्यवहार में छेकइया) के नाम से जाना जाता है।[195]

2. कन्यावरण

कन्यावरण के लिए मुहूर्त्तचिन्तामणि में उल्लिखित मुहूर्त उत्तराषाढ़ा, स्वाति, श्रवण, तीनों पूर्वा (पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा तथा पूर्वाफाल्गुनी), अनुराधा, धनिष्ठा, कृतिका अथवा जो वैवाहिक नक्षत्र है, इसके साथ मंगलवार दिन एवं वैवाहिक मास का प्रथम दिन, रिक्ता तिथि (4,9,14) अष्टमी, नवमी तिथियों का छोड़कर अन्य किसी भी तिथि, दिन, चंद्रबल एवं ताराबल के अनुकूल रहने पर शुभ लग्न में कन्यावरण किया जाता है। वहीं पीयूषधारा में वराह, कश्यप का भी यही अभिमत है। तत्पश्चात् महेश्वर के मत से वरपिता यह कहते है कि वचन के द्वारा जो कन्या आपने मेरे पुत्र के विवाह के लिए प्रदान करने का निश्चय किया, उस कन्या को मैंने स्वीकार कर लिया। अब आप इस कन्या के लिए मेरे पुत्र को वर के रूप में प्राप्त करने का निश्चय कर लें तथा सुखी रहें।

इस अवसर पर वस्त्रालंकार, मिष्ठान्न, पुष्प, फल,

---

[195] मुहूर्तचिन्तामणि, पृ0 289

पूगीफल, नारिकेल, ताम्बूल आदि यथाशक्ति सुलभ वस्तुएँ कन्या को समर्पित कर कन्या का संक्षिप्त पूजन एवं तिलक लगाकर वरण किया जाता है।[196]कन्यावरण के पश्चात् मुद्रिकापरिवर्तन का भी लोकाचार होता है। जिसे 'रिंगसेरेमनी' या 'सगाई' आदि से व्यवहृत किया जाता है। यह मुद्रिका-परिवर्तन सम्प्रति विवाह संस्कार का एक सामाजिक मान्यता प्राप्त घटक हो गया है। यद्यपि विवाह एक परम पवित्र वैदिक संस्कार है किन्तु इसमें परम्परा के अनुरूप कुलाचार, लोकाचार तथा शिष्टाचार आदि संस्कार भी समाहित किये गये हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार इसमें अंतर भी है। फिर भी अपनी-अपनी मान्यताओं का भी ध्यान रखते हुए यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है, क्योंकि ये उपर्युक्त सभी सामाजिक रूढ़ि का रूप ग्रहण कर चुके हैं जिन्हें नहीं करने पर कोई अनिष्ट न भी हों किन्तु समाज को इन्हें त्यागना निश्चय ही अभीष्ट नहीं है।

3. वरणरण

कन्यावरण के पश्चात् क्रमप्राप्त वरवरण का क्रम उपस्थित होता है। जिसमें ब्राह्मण, कुलपुरोहित, कुलाचार्य एवं इनमें कोई भी एवं कन्या का सहोदर

[196]**मुहूर्तचिन्तामणि, 6.10, पृ0 288-89, संस्कारपद्धति, पृ0 106**

भ्राता (परिवार सहित) शुभ दिन में मंगलगीत, मंगलवाद्य एवं अक्षत, चंदन, ताम्बूल, नारिकेल, हरिद्रा, दूर्वा, मांगलिक वस्त्र (वर एवं परिवार के लिए उपयोगी वस्त्र), यज्ञोपवीत, नानाविध फल, मिष्ठान्न, द्रव्य, गार्हस्थ्य जीवन में उपयुक्त पात्रादि उपकरणों के साथ ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र (उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपदा, उत्तरफाल्गुनी, रोहिणी), कृतिका, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा, पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रों में शुभ लग्न के अनुसार किसी भी दिन वर के गृह जाकर वर का वरण किया जाता है। लोक में इसे 'तिलक' भी कहा जाता है। इसकी सम्पुष्टि पीयूषधारा में उद्धृत व्यवहार चण्डेश्वर के मत से भी होती है।[197] वर वरण में कन्या भ्राता अथवा पिता अपने शुभचिंतक समूह के साथ वर गृह जाकर पश्चिममुख उपविष्ठ (बैठकर) होकर तथा चिं० वर पूर्वमुख शुभासन पर उपविष्ठ होकर दोनों ही आचमन एवं प्राणायाम (भगवतध्यान) कर पवित्रीकरण मंत्र से जल छिड़ककर पवित्र होकर पूजा सामग्री को भी जल से पवित्र अपने-अपने हाथ में जल, अक्षत, पूगीफल तथा द्रव्य लेकर संकल्प करते हैं। कन्याभ्राता देश, काल संकीर्तन के पश्चात् अपने गोत्रपूर्वक नाम का उच्चारण, कन्या के भी गोत्र एवं नाम का उच्चारण

---

[197]**मुहूर्तचिन्तामणि, 6.11, पृ0 290**

करते हुए यह कहता है कि अपनी भगिनी के भावी विवाह कर्म में वरपूजनपूर्वक वरवरण करता हूँ। पूजन का अंग होने के कारण कलश स्थापन विधि से कलश का स्थापन एवं पूजन करने के पूर्व कार्य में निर्विघ्नता की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम गौरी एवं गणेश की भी पूजा करता है। तत्पश्चात् वर भी अपने हाथ में जल, अक्षत, द्रव्य रखकर देशकाल संकीर्तनपूर्वक अपने नाम व गोत्र का उच्चारण करते हुए (ब्राह्मण शर्मा, क्षत्रिय-वर्मा, वैश्य - गुप्त एवं शूद्र-दास जोड़ते हुए) कहता है कि मैं अपने भावी विवाह कर्म में वरवरण ग्रहण करता हूँ। पूजन का अंग होने के कारण कलश स्थापन विधि से कलश स्थापन एवं पूजन करने के पूर्व निर्विघ्नता की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम गौरी एवं गणेश की पूजा करता हूँ। इस प्रकार पूजन सम्पन्न होने के पश्चात् कन्या भ्राता या पिता वरपूजन के क्रम में सर्वप्रथम वर का पाद प्रक्षालन कर, मस्तक पर तिलक तथा अक्षत लगाकर, पुष्पमाला उठाकर धारण कराता है। ततः वरण द्रव्य हाथ में लेकर पूर्वविधि से संकल्पपूर्वक गोत्रनाम युक्त कन्या के भावी विवाह कर्म में वरण द्रव्य (वस्तु), अक्षत, चंदन, ताम्बूल, नारिकेल, हरिद्रा, दूर्वा, मांगलिक सूत्र, द्रव्य, भाजन (गृहस्थोपयोगी पात्रादि) उपकरण एवं वरण में दिये जाने वाले

वस्त्रालंकार आदि वस्तुओं से मैं अमुक गोत्र, अमुक नाम (शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास) के वर का कन्या (भगिनी) के प्रतिगृहीता के रूप में वरण करता हूँ। वर, मैं वृत्त गया (मेरा वरण हो गया), ऐसा कहकर वरण की वस्तुएं ग्रहण करता है। वरण वस्तु ग्रहण करते हुए वर के द्वारा जो मंत्र उच्चारित होता है, उसका तात्पर्य है- व्रत (नियमपूर्वक) से दीक्षा (उच्चज्ञान) की प्राप्ति होती है, दीक्षा से दक्षिणा (दक्षता, योग्यता), दक्षता से श्रद्धा तथा श्रद्धा से सत्य (वास्तविक तत्व) की प्राप्ति हो सकती है। तत्पश्चात् कन्या भ्राता या पिता तथा वर के द्वारा वर वरण कर्म में त्रुटि के निवारण के लिए ब्राह्मण को भूयसी दक्षिणा दी जाती है तथा उभय पक्ष के द्वारा वरवरण की सफलता के लिए यथा संख्याक (अपनी इच्छा के अनुसार) ब्राह्मण भोजन का संकल्प किया जाता है। उभय पक्ष के द्वारा आवाहित देवताओं का विसर्जन कर यज्ञ की पूर्णता के लिए भगवान यज्ञपुरुष नारायण का स्मरण किया जाता है। लोकाचार एवं शिष्टाचार के अनुसार उभय पक्ष में परस्पर लग्नपत्री (विवाह के मुहूर्त्त एवं उभय पक्ष के पिता सहित वर तथा कन्या का नाम एवं निवास स्थान) का आदान-प्रदान एवं धान्य का वितरण होता

है। इस प्रकार का वरण सम्पन्न होता है।[198]

4. मण्डपस्थापन

मण्डप स्थापन निर्माण एवं पूजन की प्रथा सभी शुभ कार्यों एवं सभी प्रदेशों में प्रथित है। कहीं काष्ठस्तम्भ के रूप में, कहीं कदली (केला) वृक्ष के स्तम्भ के रूप में, सम्प्रति लोहे के स्तंभों से कृत्रिम साज-सज्जा, पुष्पादि से सुसज्जित मण्डप का विधान है। किन्तु इन सभी स्थान भेद, प्रदेश भेद तथा देश भेद से प्रचलित मण्डप निर्माण की अपेक्षा आर्यावर्त के भारतीय मण्डप निर्माण विधान एवं पूजन विशिष्टता रखता है। मण्डपस्थापन के सम्बन्ध में अनेक ऋषियों के अनेक मत प्राप्त होते हैं। स्थापन के पूर्व -निर्माण की आवश्यकता होती है। जिस पर महर्षि वसिष्ठ, महर्षि व्यास, देवर्षिनारद, सप्तर्षिगण के मत निर्णयसिन्धु में उद्धृत है। महर्षि वसिष्ठ के मत से कन्या के हाथ से 16 X 16 हाथ का मण्डप हो, चार द्वारों से सुशोभित एवं तोरण आदि से मण्डित तथा मध्य में वेदिका की प्रकल्पना हो। यदि इतने स्थान की सुलभता न हो तो 8 X 8 या 12 X 12 हाथ का भी मण्डप निर्माण बताते हैं। वहीं दैवज्ञमनोहर में विवाह के पूर्व चित्रा, विशाखा,

---

[198]विवाह-पद्धति, पृ0 1-3

शतभिषा, अश्विनी, ज्येष्ठा, भरणी, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा इन नक्षत्रों को त्यागकर अन्य किसी भी नक्षत्र में तेल, वेदी आदि के साथ मण्डप निर्माण करना चाहिए। वहीं हेमाद्रि में उद्धृत व्यास के वचन से विवाहार्थ अन्न का कूटना - छाँटना (पूर्वांचल की लोक-भाषा में कहीं-कहीं फटकन कहा जाता है तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न क्रिया एवं नामों से जाना जाता है) मण्डप निर्माण के लिए मृदाहरण (मंगलगान के साथ सुभग स्त्रियों द्वारा मिट्टी लाना), जिसको लोक में 'मटकोर' कहते हैं आदि विवाह से सम्बन्धित सभी कार्य वैवाहिक नक्षत्रों एवं शुभदिन में ही करने चाहिए। इसी प्रकार महर्षि नारद कहते हैं कि एक हाथ ऊँचा, चार हाथ लम्बा व चौड़ा, चारों ओर से चौकोर, सुंदर चार स्तंभों से युक्त, गृह के वाम भाग में वेदि का निर्माण हो, जो ऊपर से समान हो, जिसके चारों दिशाओं में द्वार हो तथा जिसका ढाल उत्तर या पूर्व दिशा में हो, जिसमें केले के स्तंभ लगे हो तथा हंस, शुक आदि से सुसज्जित हो । अग्निस्थापन की हुयी उस वेदी पर कन्या तथा वर विराजमान हो। ऐसा ही मत सप्तर्षियों का भी है कि वे भी सभी मांगलिक कार्यों में मण्डप निर्माण बताते हैं। जो 16 X 16 हाथ या उससे कम 10 X 10 हाथ का भी मण्डप हो सकता है तथा चारों

कोण एवं मध्य में स्तंभ गले हो, ऐसे निर्मित मण्डप के मध्य में वेदि निर्मित हो ।[199]

इन स्तंभों की स्थापना का प्रारम्भ अग्निकोण से प्रारम्भ होकर चारों कोण के पश्चात् मध्य में स्थापित हो। ये स्तंभ प्राय: बांस के गाड़े जाते हैं तथा मध्य के स्तम्भ में हरीश एवं लोकाचार, देशाचार के •अनुसार केला का स्तंभ भी साथ में लगाया जाता है। इन स्तंभों की स्थापना के लिए "देवस्य त्वा" ईत्यादि मंत्र से कुदाल या कोई खनिज यंत्र उठाया जाता है। " इदं महगू" इत्यादि मंत्र से गड्ढा खोदा जाता है। "ऊँ सिचन्ति" इत्यादि मंत्र से गढ्ढों में जल छोड़ा जाता है। "ॐ द्यौ रसि"" इत्यादि मंत्र से मापकर रेखा खींची जाती। ""ऊँ मावो ऋषि" इत्यादि मंत्र से गड्ढे में जौ छोड़ा जाता है तथा मौन होकर उस गढ्ढे में पीली सरसों एवं कुश छोड़ा जाता है। "ऊँ काण्डात् काण्डात्" इत्यादि मंत्र से दूर्वा छोड़ी जाती है। "ॐ दधिक्रा" इत्यादि मंत्र से उसमें दही छोड़ी जाती है। "ऊँ याहः फलि : " इस मंत्र से सुपारी छोड़ा जाता है। "ऊँ हिरण्यगर्भ"" इत्यादि मंत्र से गढ्ढे में द्रव्य छोड़ा जाता है। "ऊँ उच्छ्रस्व" इत्यादि मंत्र से कुल परिवार के पाँच व्यक्ति एक-एक स्तंभ उठाते हैं। "ऊँ ऊर्ध्व ऊ षु ण" इत्यादि मंत्र से गढ्ढे

[199] **निर्णयसिन्धु, पृ0 472**

में स्तम्भ गाड़ते हैं। “ऊँ स्थिरो भव:” इत्यादि मंत्र से स्तंभ को सीधा कर गढ्ढे में मिट्टी छोड़कर उन्हें दृढ़ करते हैं। ऐसे मण्डप में अग्निकोण से प्रारम्भ करके नैऋत्य, वायव्य तथा ईशानकोण में नन्दिनी, नलिनी, मैत्रा, उमा तथा पशुवर्धिनी इन पंचमण्डप माताओं का आवाहन कर “ॐ मनोजूतिर ” इस मंत्र से इनकी प्राणप्रतिष्ठा कर सभी का एक साथ षोडशोपचार से पूजन कर प्रार्थनापूर्वक यह कहा जाता है कि अमुक मण्डप माताएं प्रसन्न एवं वरदायक हो। तत्पश्चात् मण्डपपूजन कर्म की सफलता के लिए यथाशक्ति ब्राह्मण भोजन, ब्राह्मण को दक्षिण प्रदान कर ‘“ऊँ प्रमादात”’ इत्यादि वाक्य बोलकर भगवान नारायण को प्रणाम कर मण्डप स्थापन कर्म समाप्त होता है।[200]

5. मृदाहरण

“मृद: आहरणम् मृदाहरणम्” अर्थात् मिट्टी लाना। इसी प्रकार **“मृद : आहृयते येन् तत् मृदाहरणम्”** अर्थात् जिस कर्म (प्रक्रिया या संस्कार) से मिट्टी लायी जाती है, उसे मृदाहरण कहते हैं। निर्णयसिन्धु में उद्धृत महर्षि नारद के मत से सभी शुभकार्यों (विवाहादि) में शुभ मुहूर्त्त से 9, 7, 5, 3 दिन पूर्व या समय के

[200] **विवाहपद्धति, पृ0 3-6**

अभाव में उस दिन भी शुभ समय बीजवपन के नक्षत्र (बीज बोने के नक्षत्र) में परिवार की पाँच या सात सौभाग्यवती स्त्रियां वस्त्रालंकार आदि से सुसज्जित होकर मिट्टी या बांस के पात्र में यव, हल्दी, पान का पत्ता, दूब, रोरी, अक्षतादि संक्षिप्त पूजन सामग्री के साथ निवास स्थान से पूर्व या उत्तर दिशा में नृत्य, वादित्र (नाच, गाना) के साथ जाती हैं। वहां संक्षिप्त पूजन कर श्लक्ष्ण (चिकनी), सिकतामयी (बलुआ) मिट्टी लेकर गाते बजाते नाचते परस्पर आमोद-प्रमोद करती हुयी निवास स्थान लौटती है। मिट्टी को मण्डप में लाकर कुछ मध्य स्तंभ के पास रखती है तथा कुछ चुल्ही निर्माण के लिए भी मण्डप में ही अन्यत्र रख देती है। मध्य में रखी मिट्टी में यव वपन कर उसी के ऊपर कलशस्थापन कर अग्रिम हरिद्रालेपन, विवाहादि विधियां मण्डप में सम्पन्न की जाती है। वहीं निर्णयसिन्धु में शौनक के मत से गर्भाधान, गर्भसंस्कार (पुंसवन, सीमन्तोन्नयन), जातकर्म, नामकरण इन संस्कारों को त्यागकर सभी शुभकार्यों में इसी प्रकार जौ के द्वारा मंगल अंकुर (जौ रोपण) किया जाता है। इसी बात की पुष्टि वहीं पर बृहस्पति के मत से भी होती है। वहीं ज्योतिप्रकाश में उद्धृत वचन से शुभकार्य के 4, 5, 7, 9, 11 दिन

पूर्व मृदाहरण, जौ रोपण शुभ कहा गया है। जबकि 6 एवं 3 दिन पूर्व को वर्जित किया है। इस प्रकार मृदाहरण कृत्य पूर्ण होता है। इसी को पूर्वांचल की लोकभाषा में 'मटकोर' शब्द से व्यवहृत किया जाता है।[201]

6. हरिद्रालेपन

जिसका विवाह होना है वरपक्ष का वर तथा कन्यापक्ष की कन्या अपने-अपने निवास स्थान के मण्डप में उपस्थित होकर आचमन, प्राणायाम कर पवित्रीकरण मंत्र से स्वयं एवं पूजन सामग्री के ऊपर जल छोड़कर हाथ में अक्षत, पुष्प, जल लेकर स्वस्तिवाचन करने के पश्चात् गणेश स्मरण कर संकल्प करते हैं। संकल्प में अपने-अपने नाम तथा गोत्र का उच्चारण कर यह कहते हैं कि मैं भावी विवाह संकल्प का आवश्यक अंगभूत हरिद्रालेपन कर्म करते हैं। इसमें निर्विघ्नता की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम गणेश, गौरी का पूजन कर कलश स्थापन विधि से कलश स्थापन कर उसमें वरूण तथा नवग्रहादि समस्त देवी-देवता का आवाहन एवं पूर्वविधि से विधिवत पूजन कर हरिद्रालेपन (हल्दी, तेल) का कार्य प्रारंभ होता है। मिट्टी के पात्र या

[201] **निर्णयसिन्धु, पृ0 473**

कटोरे में हल्दी, चूर्ण, सरसों का तेल मिश्रित कर दूर्वा पूंज से "ॐ काण्डात काण्डात" इत्यादि मंत्र से पात्र में रखे हुए हल्दी तैल को उठाकर कलश एवं अन्य स्थापित देवताओं को पांच बार समर्पित कर ब्राह्मण, कन्या व वर के मस्तक पर छोड़ देता है। कहीं-कहीं लोकाचार के अनुसार ब्राह्मण देवताओं को समर्पित कर सपरिवार के सदस्यों को कह देता है कि परिवार की सौभाग्यवती अथवा कुमारीकाएं सदस्याएं पांच या सात की संख्या में वर एवं कन्या के शरीर में हल्दी तैल का लेप करती है। पुन: "ॐ युञ्जन्ति" इत्यादि मंत्र से उनके मस्तक पर रोरी या कुमकुम का तिलक लगाकर उस पर "ॐ अक्षन्नमी" इत्यादि मंत्र से अक्षत लगाकर "ॐ यदाध्नन्द" इत्यादि मंत्र से वर कन्या के हाथ में कंकण (पीले वस्त्र में पीली सरसों, चोकर, हींग एवं लोहे की मुद्रिका) बांध दिया जाता है। शास्त्रीय विधि से यह कंकण हल्दी के समय ही बंध जाना चाहिए। कहीं-कहीं लोकाचार के अनुसार यह कंकण मण्डप में विवाह के मध्य में बाँधा जाता है। तत्पश्चात् तैल, हरिद्रा लेप कर्म की सांगता के लिए ब्राह्मण को दक्षिणादि देकर भगवान नारायण का स्मरण का हरिद्रालेप कर्म सम्पन्न होता है।[202]

[202] **विवाहपद्धति, पृ0 6-7**

7. मातृका पूजन

हरिद्रालेपन के पश्चात् मातृकापूजन के मध्य स्थान भेद तथा लोकाचार भेद से एक क्रिया और भी होता है, जिसमें मण्डप में पूर्वावाहित (पूर्व में जिन देवताओं का आवाहन किया गया है।) गौरी, गणेश आदि देवताओं का संकल्पपूर्वक संक्षिप्त पूजन वर तथा कन्या के परिवार द्वार अपने-अपने लोकाचार के अनुसार होता है। जिसे 'मातृभाण्ड स्थापन' कहते हैं। एक ऐसी क्रिया जिसमें मृदाहरण में सुभग सात स्त्रियों के द्वारा लायी गयी मृतिका से चार छिद्र वाली एक चूल्हिका (चूल्ह) का निर्माण कर उन चारों छिद्रों पर चार पात्र रखकर चारों को अक्षत एवं गुड़ से भर दिया जाता है। तत्पश्चात् चार मृण्मय पात्र को अक्षत से परिपूर्ण कर उसमें सुपारी एवं पान का पत्ता स्थापित कर प्रथम पात्र में पितृगणों का आवाहन कर, द्वितीय पात्र में वायु आदि ऐसे सभी देवताओं का आवाहन किया जाता है जिसमें आंधी, तूफान आदि का प्रकोप होने की संभावना हो सकती है। तृतीय पात्र में सर्पादि हिंसक जीवों एवं चतुर्थ पात्र में अपने कुलदेवता को आवाहित (लोकाचार के अनुसार इस पितृ निमंत्रण कहा जाता है तथा इस अवसर पर पारिवार में उपस्थित

महिलाओं को चने की दाल अथवा चूड़ा एवं गुड़ या लड्डू देकर) संक्षिप्त पूजन कर दूसरे पात्र से उसे ढककर पीसे हुए माषान्न (उड़द) के लेप से दोनों पात्रों के छिद्रों को बंद कर देना चाहिए तथा उस पर सिंदूर का लेपन लगा सुशोभित करके रख दें। (लोकाचार के अनुसार दोनों के माता-पिता वस्त्र से अपने आप को आच्छादित कर उड़द की दाल आसन डालकर पीसते हैं तथा उसी लेप से उसका मुख बंद किया जाता है)। तत्पश्चात् उसे हाथ में लेकर आवास के भीतर जहां गुप्तागार (कोहबर) हों, वहां के द्वार पर दक्षिणभाग में जयन्ती, मंगला, पिंगला तथा वामभाग में आनंदवर्धिनी, महाकाली का आवाहन कर संक्षिप्त पूजन के पश्चात् गुप्तागार में प्रवेश करें। वहां पहुँचकर शुक्र स्थिति विचार के अनुसार जिस दिशा में शुक्र हो, उसकी विपरीत दिशा की भित्ति पर एक गणेश एवं गौरी आदि सोलह षोडशमातृकाओं की 17 गोमय की पिण्डियां बनाकर चिपका दी जाती हैं। ये षोडशमातृकाएं गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, मातृ, लोकमाता, धृति, पुष्टि, तुष्टि तथा अपने कुलदेवता है। तत्पश्चात् वर पिता या कन्या पिता अपने-अपने गृह आचमन, प्राणायाम कर पवित्रीकरण मंत्र से स्वयं एवं पूजा सामग्री का

सम्प्रोक्षण कर हाथ में अक्षत, पुष्प लेकर 'आनोभद्रादीन्' शांतिसूक्त तथा 'सुमुखश्चैकदन्त' इत्यादि गणेश स्तुति कर पुन: गणेश स्मरण कर वह अक्षत, पुष्प गणेश जी को समर्पित कर दें। तत्पश्चात् हाथ में अक्षत, जल तथा द्रव्य लेकर संकल्प करें कि "मैं अमुक गोत्र, अमुक नाम, अपने पुत्र या पुत्री के भविष्य विवाह कर्मांगभूत, स्वास्तिवाचन, मातृकापूजन, वसोर्द्धारा, आयुष्यमंत्रजप एवं सांकाल्पिक विधि से नान्दीश्राद्ध करता हूँ। पुनश्च पूर्वावाहित सगणेश षोडशमातृकाओं का षोडशोपचार पूजन कर लेने पर उसी भित्ति पर दक्षिण से उत्तर क्रम में सप्तघृतमताओं (श्री, लक्ष्मी, धृति, मेधा, स्वाहा, प्रज्ञा एवं सरस्वती) की पूजा के लिए षोऽशमातृकाओं के उत्तर भाग से सप्तघृतमाताओं की पूजा के लिए सिंदूर के सात बिन्दु बनाये जाते हैं। उनकी पूजा के पश्चात् "ॐ वसो पवित्रमसि" 'सुप्वा' पर्यन्त इस मंत्र को बोलते हुए सातों बिन्दुओं पर घृत की धारा गिरायी जाती है। कहीं-कहीं लोकाचार के अनुसार इन देवियों की पूजा करने वाली वर या कन्या की माता अपने सिर का लट निकलकर उस लट पर घी गिराते हुए धारा देती है। यही 'वसोर्द्धारापूजन' है। प्रतिधारा इन सप्तामतृकाओं का आवाहन कर इन सातों बिन्दुओं को गुड़ से एक

में मिला हुए इनके ऊपर “ॐ कामधुक्ष” इसका उच्चारण कर एक-एक नवीन पीले वस्त्र की पतली पट्टी से षोऽशमातृका एवं सप्तघृतमतृका के ऊपर गुड़ से ही चिका दिये जाते हैं। इसी को 'सप्तघृतमातृका पूजन' कहते हैं। ततः “ॐ अयुष्यं” से प्रारम्भ कर ‘जरदष्टिर्यथासम्” पर्यन्त इन तीनों मंत्रों का उच्चारण “आयुष्यमंत्र जप” है। इस प्रकार मातृकापूजन, वसोर्द्धापूजन एवं आयुष्यमंत्र जप सम्पन्न हुआ।[203]

8. नान्दीश्राद्ध

पूर्व के संकल्प में नान्दीमुख श्राद्ध का भी संकल्प सम्मिलित है। “श्रदि हृदि धार्यते या सा श्रद्धा तया श्रद्धया दत्तं श्राद्धम नान्घाहा आनन्द प्रदायक शुभ क्रियासु यत् श्राद्धम तत् नान्दीश्राद्धं” अर्थात् हृदय में जिसे धारण कर लिया जाये वह श्रद्धा है तथा उस श्रद्धा से यज्ञ-यागादि वास्तुकार्य (गृह प्रवेश आदि) तथा चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाहादि शुभ संस्कारों में प्रमुखतया जिन अपने पितृगण (पूर्वजों) का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए उनकी कृपा को प्राप्त करने के लिए उनके निमित्त जो कृत्य किया जाता है, उसे नान्दीश्राद्ध कहते हैं।

---

[203] **विवाहपद्धति, 8-10**

नान्दीश्राद्ध विधि के अनुसार वर-कन्या के पिता अथवा उनके स्थान पर कोई भी इस कृत्य का कर्त्ता सपत्नीक (कोहबर) में एक पत्रावली (पलाश का पत्त) के मध्य में दाक्षिण्य (अर्थात् दक्षिण से उत्तर, यानि दायें से बायें) से चार स्थानों पर सीधे कुशों को रखकर संकल्पपूर्वक क्रम से उनका पूजन करना चाहिए। जिस प्रकार लोक व्यवहार में समाहुत (बुलाया गया), समागत (आया हुआ) उनके स्वागत समारोह की यथाशक्ति जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा ही विश्वेदेव सहित पिता, पितामह, प्रपितामह (पिता, बाबा, परबाबा), माता, पितामही, प्रतिमामही (माता, दादी, परदादी) अपने कुल तथा मातृकुल के मातामह, प्रमातामह, वृद्धप्रमातामह (नाना, परनाना, परपरनाना) सपत्नीक के लिए प्रत्येक कुशा पर क्रम से दाहिने रखे प्रथम कुशा से प्रारम्भ कर सत्यवसुसंज्ञक विश्वेदेव, नान्दीमुख के लिए पत्रपुटक (दोनिया) में पाघ प्रक्षालन के लिए जल, इसी प्रकार दूसरे कुशा के स्थान पर माता, मातामही, प्रपितामही नान्दीमुख के निमित्त पाद्यप्रक्षालन तथा तीसरे स्थान पर कुशा पर पिता, पितामह, प्रपितामह नान्दीमुख के पाघ प्रक्षालन के लिए पत्रपुटक में जल दिया जाता है। इसी प्रकार चारों स्थानों पर इसी क्रम से दो-दो

कुशों का आसन पूर्वोक्त वाक्य बोलते हुए रख दिया जाता है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त क्रम से ही चारों स्थान पर पूर्वोक्त वाक्यों का उच्चारण करते हुए गंधादि पूजन सामग्री समर्पित की जाती है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त क्रम से ही पूर्वोक्त वाक्य का उच्चारण करते हुए चारों स्थानों पर दो ब्राह्मण भोजन के लिए अन्नादि सामग्री अथवा उसके निमित्त द्रव्य रख दिया जाता है। ततः इस पितृपूजन से अक्षय शुभ फल प्राप्ति एवं उसकी प्रसन्नता के निमित्त चारों स्थानों पर पूर्वोक्त क्रम से ही पूर्वोक्त वाक्य का उच्चारण करते हुए सक्षीर यव (दूध एव जौ) चारों स्थानों पर दे दिया जाता है। पूर्व क्रम से ही चारों स्थानों पर "ॐ शिवा आप: सन्तु" कहकर जल, "ॐ सौमनस्यमस्तु" कहकर फूल, "ॐ अक्षतं चास्तु" कहकर अक्षत, "ॐ अघोराः पितरः " कहकर जलधारा देनी चाहिए। तत्पश्चात् हाथ जोड़कर इनकी प्रार्थना करनी होती है कि आप लोगों की कृपा तथा आशीर्वाद से हमारे गोत्र की वृद्धि हो, मुझे सहयोग प्रदान करने वालों की वृद्धि हो। वेदों तथा शास्त्रों में मेरी तथा संततियों की श्रद्धा कभी नष्ट न हो। मेरे तथा मेरे परिवार में इतना सामर्थ्य हो कि हम दान करें, मेरे परिवार में पर्याप्त अन्न हो तथा परिवार में अच्छे अतिथियों का सुभागमन हो। मैं या मेरा परिवार

कहीं किसी के पास याचना करने न जाये। ये सभी आशीर्वाद आप लोगों की कृपा से सत्य हो। इस कर्म को कराने वाले ब्राह्मण अपने मुख से कहते हैं कि ये सारे आशीर्वचन सत्य होंगे। पुन: जिन वाक्यों को बोलते हुए चारों स्थानों पर पाद्यादि सामग्री दी गयी थी उन्हीं स्थानों पर विश्वेदेव, पिता, पितामह, प्रपितामह नान्दीमुख के निमित्त इस नान्दीश्राद्ध के फल प्राप्ति के लिए अंगूर, आंवला, जौ एवं कंद के निमित्त निष्क्रियभूत दक्षिणा का संकल्प करता है। इसके पश्चात् एक पत्रपुटक में यव, सरसो, फल, दूर्वा, दूध, जल, कुशा, चंदन, पुष्पसहित जल रखकर "ॐ उपास्मै गायता" से प्रारम्भ कर "सुमतिर्भूत्वस्मैस" पर्यन्त मंत्र को बोलते हुए चारों स्थान पर अर्घ्य दे, इसके पश्चात् कर्मकर्त्ता कहें कि इससे नान्दीश्राद्ध सम्पन्न हुआ तथा ब्राह्मण बोले की सम्पन्न हो गया। पुन: "ॐ व्वाजे वाजे" इत्यादि मंत्र उच्चारित कर विश्वेदेव आदि चारों को विसर्जन इस प्रकार करें कि उस पत्तल को "" लपेटकर नारे से बांधकर षोडशमातृका के पास रख दें ।[204]

विशेष- यदि किसी वर-कन्या का प्रथम विवाह हो तो उसमें नान्दीश्राद्ध पिता को करना चाहिए जबकि द्वितीय विवाह में नान्दीश्राद्ध स्वयं करना चाहिए।

---

[204] **वही, पृ0 11-14**

ऐसा किसी एक का मत है जो कि युक्ति एवं औचित्यसंगत नहीं है क्योंकि श्राद्ध में प्रथम सोपान पिता ही होता है। पिता के जीवित रहते पुत्र उसका श्राद्ध कैसे करेगा। अन्य सभी मनीषियों का एकमत है कि माता - पिता जीवित हों तथा उनके काल में द्वितीय पाणिग्रहण हो रहा हो तो पिता के नान्दीमुख श्राद्ध की कोई आवश्यकता नहीं है।[205]

9. द्वारपूजा

विवाह संस्कार में अनेक घटक होते हैं जैसाकि पूर्वोक्त है तथा सभी आवश्यक भी है। तथापि मुख्य रूप से पाणिग्रहण का प्रारम्भ द्वारपूजा से हो जाता है। " द्वारस्य पूजा द्वारपूजा" अर्थात् द्वार की पूजा द्वारपूजा है अथवा “द्वारे पूजा द्वारपूजा” अर्थात् द्वार पर पूजा द्वारपूजा है। द्वारपूजा शब्द के इन दोनों व्युत्पत्तियों में शब्दार्थ की जिज्ञासा शान्त नहीं हुयी क्योंकि द्वार की पूजा कहते हैं तो द्वार शब्द जड़ का वाचक है तथा पूजा शब्द का अर्थ चेतन है। जड़ एवं चेतन का समन्वय नहीं हो सकता है। पुन: किसकी पूजा? यह प्रश्न यथावत है। एवमेव द्वार पर पूजा द्वारपूजा में भी किसकी पूजा ? दोनों

---

[205]**निर्णयसिन्धु, पृ0 476**

व्युत्पत्तियों का यह तात्पर्य शब्द की अभिधा शक्ति द्वारा निर्गत होता है। इससे शब्दार्थ की जिज्ञासा शान्त नहीं हो सकती। यदि द्वार पर पूजा कहने पर द्वार स्थित वर कीपूजा होती है तो उसे वरपूजा ही कहना उपयुक्त था। पुनः द्वारपूजा कहने की क्या आवश्यकता है। ऐसी जिज्ञासा बनी रहने पर इसे शान्त करने के लिए शब्द की लक्षणा शक्ति के द्वारा द्वार शब्द की वर में लक्षणा कर द्वार स्थित वर की पूजा यह कहने पर दोनों जिज्ञासाएं शान्त हो जाती हैं। अतः द्वारपूजा शब्द का निर्गलित तात्पर्य द्वार स्थित वर की पूजा ही निष्पन्न होती है। ये दोनों जिज्ञासाएं द्वारपूजा शब्दार्थ के सम्बन्ध में उत्पन्न नहीं हो इसके लिए द्वार शब्द की व्युत्पत्ति होगी "द्वारं पुनाति इति द्वारपूः ऊँ शम्भूः तस्मात् जातः पूजः = गणेशः द्वारपूचासौः पूजश्च इति द्वारपूजः सः प्रधानः तस्यां क्रियायाम् सा द्वारपूजा" अर्थात् द्वार को जो पवित्र करे वह द्वारपू है, वह कौन है? शिव से उत्पन्न उनके पुत्र गणेश तथा वह प्रमुख है, जिस पूजा में उनका नाम प्रधान हो, वह द्वारपूजा है। इस व्युत्पत्ति से निर्गलित निष्कर्ष द्वार वाली जिज्ञासा को अपास्त (निरस्त) कर दिया क्योंकि 'द्वारपूजा में प्रमुखतया प्रथम गणेश की होती है पश्चात् वर की । इसे ही लोकाचार में कहीं-कहीं द्वारचार या द्वारपूजा

कहा जाता है। जिसका सामान्य अर्थ द्वार पर होने वाले शिष्टाचार हैं।[206]

इस पूजा की विधि में कन्यादाता एवं वर आचमन एवं प्राणायाम करने के पश्चात् "ॐ अपवित्रः " इस पवित्रीकरण मंत्र से स्वयं पूजा सामग्री का सम्प्रेक्षण करके हाथ में अक्षत, पुष्प लेकर शान्तिसूक्त का पाठ कर भगवान गणेश का ध्यान कर अक्षत, कलश के निकट स्थापित कर पुनः कन्यादाता तथा वर अपने- अपने हाथ में अक्षत, द्रव्य लेकर देश, काल का संकीर्तन करते हुए अपने गोत्र एवं नाम के साथ अपना नाम लेकर कहता है "मैं अमुक गोत्र की अपनी अमुक नाम की कन्या के विवाह का अंगभूत द्वारदेश में उपस्थित वर की पूजा करता हूँ। उस पूजा के भंग होने के कारण विधिपूर्वक कलश स्थापन तथा वरुण देव, नवग्रहादि समस्त देवी-देवता का पूजन करता हूँ। इसमें सर्वप्रथम निर्विघ्नता की प्राप्ति के लिए गणेश, गौरी का आवाहन, स्थापन एवं पूजन करता हूँ।"

इस प्रकार आवाहन, पूजन सम्पन्न होने के पश्चात् वरपूजन के लिए "ॐ विराजो" इत्यादि मंत्र से कन्यादाता वर के पैर पर तीन बार जल छोड़ता है । कहीं-कहीं लोकाचार में यह देखा जाता है कि

---

[206] **साभार, स्व0 गणपति शास्त्री**

एक बार पत्रपुटक में कन्यादाता के द्वारा जल दे दिया जाता है, वर स्वयं अपने पैर पर जल छोड़ता है तथा दो बार कन्यादाता पाद प्रक्षालन करते हैं। कहीं-कहीं तीनों बार कन्यादाता ही पाद प्रक्षालन करते हैं। कहीं-कहीं यह , भी पाया जाता है कि द्वारपूजा में कन्यादाता वर का पाद प्रक्षालन करता ही नहीं, वह कन्यादान में ही पाद प्रक्षालन करता है। अस्तु सर्वमान्य शास्त्रसंगत पक्ष कन्यादाता उक्त मंत्र से तीन बार वर का पाद प्रक्षालन करें। ब्राह्मण वर के दक्षिणपाद का प्रथम वामपाद का पश्चात् प्रक्षालन होना चाहिए। अन्य वर्णों का प्रथम वामपाद पश्चात् दक्षिणपाद का प्रक्षालन करना चाहिए। इस प्रकार पाद प्रक्षालन कर "ऊँ अक्षन्न" इस मंत्र से वर के चरणों पर अक्षत छोड़े । "ॐ गन्धद्वारा " इस मंत्र से तिलक तथा अक्षत लगाये। "ॐ या आहार' मंत्र से पुष्पमाला उठाये, "ऊँ युजन्ति" मंत्र से पुष्पमाला पहनावें। तत्पश्चात् वरपूजन में वर के लिए वर के हाथ में पत्रपुटक में अक्षत, सुपारी, पान का पत्ता एवं मनोवांछित द्रव्य रखकर हाथ में रख दें। यथाशक्ति आज के संभ्रान्त शिष्टाचार में अक्षत आदि वस्तुएं रजत पात्र (चांदी के प्लेट) में ही दिया जाता है। पुनः उभय पक्ष के द्वारा वरपूजन की सांगता एवं पूर्णता के लिए ब्राह्मणों को दक्षिणा एवं नापित,

भारवाहक (कहाँर) आदि को यथोचित द्रव्य दिया जाता है। ततः "ऊँ यान्तु दवेगणाः" इस मंत्र से आवाहित देवताओं का विसर्जन कर "ऊँ प्रमादात " मंत्र से यज्ञपुरुष भगवान विष्णु का स्मरण कर द्वारपूजा कर्म सम्पन्न होता है।[207]

10. आचार

इसे कर्मकाण्ड की भाषा में कन्यानिरीक्षण तथा लोक में इसे "वरनेति" या विवाह के आदिम क्रम में ऐसा आचार (लोकव्यवहार) जिसमें कन्या के लिए वर के द्वारा देय सभी वस्त्राभूषणादि को मण्डप में वरपक्ष के साथ वर का अग्रज मण्डप में आवाहित देवताओं को समर्पित कर कन्या को समर्पित कर देता है। जिसे कन्यानिरीक्षण इसलिए कहा जाता है कि प्राचीन काल में वर्तमान काल जैसे कन्याएं विवाह के पूर्व नहीं देखी जाती थीं, विवाह मण्डप में बड़े, भाई के द्वारा वस्त्राभूषणादि के साथ ससम्मान कन्या का निरीक्षण का ऐसा ही प्राविधान था जो ब्राह्म विवाह का एक कर्मकाण्डीय अंग बन गया था तथा अव्यवि सम्पन्न होता आ रहा है। विधि के अनुसार कन्या के लिए वस्त्राभूषणादि मण्डप में लोकर स्थापित कर दिया जाता है एवं "ऊँ मनोजूतिर्जुष"

---

[207] **विवाहपद्धति, पृ0 14-15**

इत्यादि मंत्र से उन वस्तुओं की प्रतिष्ठा कर गणेश आदि पूर्वावाहित देवताओं की संक्षिप्त पूजा वर के अग्रज द्वारा करने के पश्चात् कन्या को मण्डप में लाकर उसके द्वारा भी देवों कीपूजा करने के पश्चात् एक पत्रावली में चार स्थानों पर अक्षतपूंज रखकर क्रम से इन चारों अक्षतपूंजों पर गणेश, ओंकार, लक्ष्मी, कुबेर आदि देवों का संकल्पपूर्वक कन्या एवं वराग्रज के द्वारा पूजन करने के पश्चात् वर के ज्येष्ठ भ्राता अपनी अंजलि से कन्या की अंजलि में पांच अंजलि अक्षत तथा फल, नारिकेल, द्रव्य देकर उन वस्त्राभूषणादि को क्रमश: गणेश एवं कलश का स्पर्श कराकर कन्या को समर्पित किया जाता है। तत्पश्चात् भगवान नारायण का स्मरण का कन्या गुप्तागार चली जाती है। इस प्रकार कन्यानिरीक्षण आचार कर्म समाप्त होता है।[208]

11. विवाहार्थ वर का मण्डप प्रवेश

आचार (कन्या निरीक्षण) सम्पन्न होने के पश्चात् मुख्य विवाह की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसमें वर अपने हाथ में जलता चतुर्भुज दीप लेकर विवाहार्थ मण्डप में प्रवेश करता है। तत: कन्यादाता अपने हाथ से वर के हाथ की दीपक लेकर उसी

[208] विवाहपद्धति, पृ0 16

दीपक से वर की आरती उतारकर मण्डप में रख देता है। तत्पश्चात् कन्यादाता अपने हाथ में अक्षत लेकर “अथ वरमाह उपानहौ” से “ तस्माद्वाराह्य उपानहौ उपमुच्चते” पर्यन्त दोनों मंत्रों का उच्चारण करते हुए वर के उपानह पर अक्षत छोड़ता है तब वर अपना उपानह (जूता) निकालता है तथा कन्यादाता एवं वर दोनों मिलकर मण्डप में रखे हुए विवाहार्थ मंगलपीठ (पीढ़ा) को उठाकर (जिस पर पाँच स्थान पर अक्षतपूंज रखा होता है) पाँच बार पूर्वावाहित गणेशादि देवताओं एवं कलश का स्पर्श कराकर वर के बैठने के स्थान पर रख देते हैं तथा “ॐ षडर्ष्या " इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते हुए पीठ के पीछे खड़े वर को कंधे पर हाथ लगाकर पीठ पर बैठाते हुए यह कहते हैं कि “साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति” अर्थात् बहुत उत्तम हुआ, आप इस पीढ़ा पर बैठे, मैं आपकी अर्चना करूँ। वर कहता है कि “ॐ अर्चयः " अर्थात् आप मेरी अर्चना कीजिए । कन्यादाता वर का हाथ पकड़कर पीठ पर बैठा देते हैं तथा स्वयं भी बैठकर आचमन, प्राणायाम कर देश, काल संकीर्तन करते हुए अपने गोत्र तथा नाम सहित उच्चारण कर अमुक गोत्र, अमुक नाम की कन्या का आज विवाह संस्कार करता हूँ। इस अंतरल में गृहागत मण्डप स्थित

स्नातक वर के लिए किये जाने वाले कन्यादान का अंगभूत मधुपर्क भी करता हूँ। ऐसा संकल्प करने के पश्चात् कुश हाथ में लेकर "ॐ विष्टरों" इत्यादि मंत्र का उच्चारण कर अपने हाथ को आगे बढ़ाता है तथा वर विष्टर ग्रहण करता है। ऐसा कहकर वह कुशा लेकर "ॐ वर्म्मोऽस्मि" इत्यादि मंत्र पढ़कर कुशा का अग्रभाग उत्तर दिशा की ओर रखते हुए अपने आसन के नीचे दबा देता है। ततः कन्यादाता पाद्यपात्र (पत्रपुटक, दोनिया) में जल रखकर पाद्यपात्र अपनी अंजलिमें रखकर "ॐ पाद्यं पाद्यं इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते हुए "पाघं प्रतिगृह्यताम्" (यह पाघ ग्रहण कीजिए) तो वर 'पाद्यं प्रतिगृह्णामि'" कहकर कन्यादाता के अंजलि से अपनी अंजल के पाघपात्र को लेकर वर स्वयं "ॐ विराजो'" इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते हुए यदि ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मण हो प्रथम दक्षिण पाद का प्रक्षालन पश्चात् वाम पाद का प्रक्षालन करते है ।। वर के द्वारा एक बार स्वयं अपना पाद प्रक्षालन करने के पश्चात् उक्त मंत्र से ही कन्यादाता स्वयं वर के पादों का प्रक्षालन करता है। पुनः "युञ्जन्ति" इत्यादि मंत्र से कस्तूरी तिलक वर के मस्तक पर तिलक लगाता है। "ॐ अक्षन्न" इत्यादि मंत्र से अक्षत लगाकर "ॐ आहरज्ज" इत्यादि मंत्र से पुष्पमाला ग्रहण कर "ॐ यद्यशो " इत्यादि मंत्र से

माला पहनाता है। पुन: दो बार बिना मंत्र के मौन होकर कन्यादाता वर को विष्टर प्रदान करता है तथा वर उसे ग्रहण कर पूर्ववत् विष्टर को अपने आसन के नीचे दबा देता है। तत्पश्चात् कन्यादाता पत्रपुटक में दूर्वा, अक्षत, फल, पुष्प, चंदन एवं जलयुक्त अर्घपात्र हाथ में ग्रहण "ऊँ अर्घोऽघौऽर्थ" इत्यादि मंत्र कहते हुए अर्घपात्र वर को देता है तथा वर "अर्घप्रतिगृह्यताम्" यह कहकर कन्यादाता के हाथ से अर्घपात्र ग्रहण कर "ऊँ आप:" इत्यादि मंत्र बोलकर पात्र में रखी अक्षतादि वस्तुओं को अपने सिर पर छोड़ते हुए "ऊँ समुद्रं वः" इत्यादि मंत्र बोलते हुए उस अर्घपात्र स्थित जल को ईशानकोण में गिरा देता है। पुनः कन्यादाता पत्रपुटक में जल लेकर "ॐ समुद्रं व:" इत्यादि मंत्र बोलते हुए उस अर्घपात्र स्थित जल को ईशानकोण में गिरा देता है। पुन: कन्यादाता पत्रपुटक में जल लेकर "ॐ आचमनीयं" इत्यादि कहकर उस पत्रपुटक को वर को देता है एवं वर "आचमनीयं प्रति गृह्यताम्" ऐसा कहकर ग्रहण कर लेता है तथा "ऊँ आमागन्य" इत्यादि मंत्र को बोलते हुए समन्त्रक आचमन करता है। तत्पश्चात् दो बार बिना मंत्र के आचमन करता है।

तत: कन्यादाता कांसे के पात्र में (लोक में कांस्यपात्र के स्थान पर पत्रपुटक का प्रयोग होता है

।) दधि, मधु तथा घृत को विषम मात्रा में रखकर दूसरे पात्र से ढककर अपनी अंजलि में लेकर "ॐ मधुपर्क" इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते हुए "ॐ मधुपर्क प्रतिगृह्यामि " (मधुपर्क ग्रहण करता हूँ) ऐसा कहकर कन्यादाता की अंजलि में रखे हुए पात्र की वस्तु को "ॐ मित्रस्य त्वा" इत्यादि मंत्र से देखकर "ॐ देवस्य त्वा" इत्यादि मंत्र से उस पात्र को ग्रहण कर बायें हाथ पर रखकर "ॐ नमः" इत्यादि मंत्र से दाहिने हाथ की अनामिका अंगूली से दक्षिण क्रम (दाहिने क्रम) से तीन बार उन वस्तुओं को मिलाकर अनामिका एवं अंगूठा के सहयोग से तीन बार उन वस्तुओं को भूमि पर छोड़े तत्पश्चात् "ॐ यन्मधुनो" इत्यादि मंत्र से समन्त्रक तीन बार प्राशन करें (मुख से लगावे) तथा तीनों बार उक्त मंत्र का पाठ भी करे। शेष बचा हुआ अपने एवं कलश के मध्य में रख दें।

मधुपर्क के पश्चात् आचमन कर वर अपने प्राणों का स्पर्श करें। जैसे "ॐ वांगम" इस मंत्र से अपनी मुट्ठी में द्रव्य रखकर दोनों हाथों की पाँच अंगुलियों से मुख का स्पर्ष कर पुन: "ॐ अक्ष्णोर्मे" इत्यादि मंत्र से अनामिका एवं अंगूठे के सहयोग से एक साथ दोनों आँखों, "ॐ कर्णयोर्मे" इत्यादि मंत्र से दाहिने हाथ से

दाहिना तथा बायें हाथ से बायां कान का स्पर्श “ॐ बाह्वोर्मे” इत्यादि मंत्र से दोनों हाथों से दोनों बाहुओं का स्पर्श करें तथा “ॐ ऊर्वो” इत्यादि मंत्र से दोनां हाथ से दोनों घुटनों का स्पर्श करें। “ॐ अरिष्टानि” इत्यादि मंत्र से अपने दोनों हाथों को सिर से पैर तक या पैर से सिर तक सर्वांग का स्पर्श करें।[209]

ततः कन्यादाता एक कुश थाली में खड़ाकर कन्यादाता एवं वर उसको पकड़ ले तथा कन्यादाता “ॐ गौर्गौ” यह वाक्य बोले एवं वर "माता रूद्राणां " से प्रारम्भ कर "आदिति वधिष्ट” तक मंत्र बोले पश्चात् कहे कि अमुके गोत्र अमुक नाम का मैं तथा अमुक गोत्र अमुक नाम के वर दोनों के पाप का हनन हो जाये। यह कहकर उसको अपने हाथ में ले तथा उसे तोड़कर रख दें। इस विधि को लोक में 'हरई' नाम से विवाह के कर्मकाण्ड में कहा जाता है।

12. वेदीकर्म (अग्निस्थापन)

तत्पश्चात् वर देश काल संकीर्तनपूर्वक संकल्प करता है कि अमुक गोत्र तथा अमुक नाम का मैं इस विवाह कर्म में पंचभू संस्कारपूर्वक योजक नामक अग्नि का स्थापना करता हूँ तथा एक हाथ लम्बी

---

[209] **विवाहपद्धति, 17-21**

चौड़ी वेदिका का निर्माण कर तीन कुशों को एक साथ लेकर वेदिका का परिसमोहन (वेदिका को झारकर) कर कुशाओं को मण्डप के ईशान कोण पर फेंक दें तत्पश्चात् गाय के गोबर एवं जल से उस वेदी का लेपन कर ध्रुवा (काष्ठनिर्मित लम्बी दरबी या कलहुल की अकृति) के मूल से उपलेपित वेदि पर दक्षिण से उत्तरकी ओर तीन रेखाएं की जाती हैं। उन रेखाओं के मध्य की मिट्टी को अनामिका एवं अंगूठे की सहायता से निकालकर रख दें। उन रेखाओं में जल छोड़कर मौनभाव से कांसे के पात्र में अग्नि रखकर कांस्यपात्र से ही ढककर "ऊँ अग्निदूतं" इत्यादि मंत्र से उस अग्नि को वेदि पर रख दें तथा उस अग्नि की रक्षा के लिए कुछ हवनीय लकड़ी एवं सूखा गोयम रख दें। तत्पश्चात् पुनः वर अपने गोत्र, नाम का उच्चारण करते हुए संकल्प करे कि मैं इस विवाहरूपी पवित्र यज्ञ में धर्म, अर्थ, काम तथा संतान आदि की प्राप्ति के लिए दार (पत्नी) परिग्रहण करता हूँ।'[210]

13. कन्यापूजन

इसमें कौतूकागार से कन्या को मण्डप में लाकर कन्यादाता चार वस्त्र वर को देता है, उनमें से दो

[210] विवाहपद्धति, पृ0 22-23

वस्त्र वर कन्या को देकर, दो वस्त्र स्वयं ग्रहण कर लेता है। व्यावहारिक रूप से कन्या वस्त्रादि से सुसज्जित मण्डप में आती है तथा वर तो सुसज्जित मण्डप में प्रवेश करता ही है। इस पूर्वोक्त वाक्य की सार्थकता के लिए कन्यादाता कन्या के मस्तक पर मौली रख देता है तथा वर को धौतवस्त्र (पीली धोती) एवं उत्तरीय (दुपट्टा, जो बाद में कंधावर का रूप लेता है) तथा यज्ञोपवीत धारण करा देता है। गंध, अक्षत, पुष्प, माला, सुवर्णादि वस्तुआं से कन्यादाता कन्या का पूजन करता है। यद्यपि पहले कहा गया है कि वर-कन्या सुसज्जित होकर मण्डप में आते हैं तथापि पद्धति की सांगता के लिए " ॐ जरा गच्छ" इत्यादि मंत्रों से कन्या वस्त्र धारण करतीहै तथा "ऊँ याऽअकृतन्नवयन्" इत्यादि मंत्र से उत्तरीय (चादर) धारण कर आचमन करती है तत्पश्चातृ वर आचमन कर "ॐ परिधास्यै" इत्यादि मंत्र से धौतवस्त्र तथा "ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं" मंत्र से यज्ञोपवीत धारण कर आचमन करता है। तत्पश्चातृ "ॐ यशसा मा" इत्यादि मंत्र से उत्तरीय धारण कर आचमन करता है। इस प्रकार वर एवं कन्यापूजन समाप्त होता है।[211]

---

[211] **विवाहपद्धति, 23-24**

14. परस्पर अभिमुखीकरण

कन्या एवं वर को परस्पर एक-दूसरे की ओर उन्मुख होना ही अभिमुखीकरण है। प्राचीन धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार ब्रह्म से प्राजापत्य तक के विवाहों में कन्या एवं वर का साक्षात्कार विवाह के पूर्व कभी नहीं होता था। दोनों पक्ष के प्रमुख स्वयं दोनों की अनुरूपता एवं योग्यता की समीक्षा कर विवाह सुनिश्चित कर लेता था तथा प्रारम्भिक वाग्दान संस्कारों से वैवाहिक संकल्प के पूर्व दोनों एक दूसरे से अवगत हो जायें या एक-दूसरे को देख लें। इस अवधारणा पर आधारित अभिमुखीकरण कृत्य है।

पद्धति के अनुसार वर तथा कन्या का परस्पर दृष्टिपात हो जाये तथा वर "ॐ समंजन्तु[212] इत्यादि मंत्र का उच्चारण करें किन्तु प्रयोग में ताम्बूल विटक (पान बीड़ा) के परस्पर आदान-प्रदान से अभिमुखीकरण सम्पन्न होता है। तात्पर्य दोनों की दृष्टियों का संयोग ही है। इस कृत्य से वर एवं वधू दोनों के हृदय का एकीकरण होता है जिससे भावी दाम्पत्य जीवन सुखमय एवं माधुर्यपूर्ण होता है क्योंकि बिना अभिमुखीकरण के विवाह प्रक्षन्न रह जाएगा तथा विवाह अपने पूर्वजों एवं बंधु-बांधवों के

---

[212] **ऋग्वेद, 10.85.47**

उद्धार एवं उनकी भी संतुष्टि का माध्यम है।[213]

15. गोत्रोच्चार

लोकाचार एवं अनादि परम्परा प्रसूत होने के कारण किसी स्मृति अथवा गृह्यसूत्र में उल्लेख नहीं होने पर भी विवाह संस्कार में वर-कन्या उभय पक्ष के त्रिपुरुषों (तीन पीढ़ी) के गोत्र, नामसहित उच्चारण किया जाता है। इसका उद्देश्य संभवत: उभय पक्ष की कुलीनता एवं उनके तीन पीढ़ी के नामों के उच्चारण से उनकी सामाजिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा का परिचय मिलता है। इसी को पद्धति में " गोत्रोच्चार " अथवा " शाखोच्चार " नमा से व्यवहृत किया जाता है।

गोत्रोच्चार प्रारम्भ करने के पूर्व गुप्तागार में पितृगण की बंद पोटलिका को खोलवा देना चाहिए तथा वर एवं कन्या दोनों के हाथों में अक्षत रखवा देना चाहिए तत्पश्चात् ब्राह्मण वर्गों में वर पक्ष के ब्राह्मण वैदिक मंगलाचरण से प्रारम्भ कर पौराणिक मंगलाचरण जो किसी देवता के नमस्कार या इस विवाह रूपी शुभकार्य के प्रति निवेदनात्मक भाव का मंगलाचरण सम्पन्न कर प्रथम वरपक्ष से गोत्रोच्चार

---

[213]**स्कंदपुराण 1.2.60.50-51**

उच्चस्वर में तथा ब्राह्मण की योग्यता एवं लय के अनुसार प्रपितामह से प्रारम्भ कर अमुक गोत्र, अमुक प्रवर, अमुक वेद, अमुक शाखासूत्र से युक्त अमुक नामक प्रपितामह का प्रपौत्र, पितामह का पौत्र, पिता का पुत्र करबद्ध होकर आप लोगों के शरण में है। अत: इस मांगलिक संवाद में उभय कुल की वृद्धि हो। वर एवं कन्या का कल्याण हो, वर चिरंजीवी हो या कन्या सावित्री हो। इस प्रकार वर पक्ष का प्रथम शाखोच्चार सम्पन्न होने पर वर के हाथ पर रखा अक्षत उभकर वरपक्ष के ब्राह्मण वर के सिर पर छोड़ देते हैं। एवमेव वर का प्रथम शाखोच्चार सम्पन्न होने के पश्चात् कन्यापक्ष का शाखोच्चार भी इसी विधि से प्रारम्भ होता है। जिसमें प्रथम वैदिक पश्चात् पौराणिक मंगलाचरण के पश्चात् कन्यापक्ष के ब्राह्मण उसके प्रपितामह से प्रारम्भ कर अमुक गोत्र, अमुक नामक प्रपितामह की प्रपौत्री, पितामह की पौत्री एवं पिता की पुत्री आप लोगों की शरण में है। वर तथा कन्या का कल्याण हो। वर चिरंजीवी तथा कन्या सावित्री हो। ऐसा कहकर कन्या के हाथ का अक्ष लेकर कन्या के ऊपर प्रक्षेप कर देते हैं। यह प्रक्रिया तीन बार करने का विधान है। उच्च स्वर से बोलने का तात्पर्य सभी को भली-भाँति सुनायी देता है एवं ब्राह्मण की योग्यता के अनुसार उच्चारण के

स्वर में होने लय से वातावरण में माधुर्य एवं मनोहरता आ जाती है।[214]

16. कन्यादान

कन्यादान की जो प्रक्रिया भारतवर्ष में प्रचलित है, अनादि परम्परा में प्रसिद्ध है, वह प्रक्रिया विश्व में किसी भी देश में नहीं है। कन्यादान में माता-पिता या जो भी इससे सम्बन्धित परिवार के सदस्य कन्यादाता के अधिकारी (पिता, पितामह, यज्ञोपवीतधारी भाई, कुल के लोग) है उनके द्वारा यह कृत्य सम्पन्न होता है। कन्यादान के इस कृत्य में विवाह के पवित्र उद्देश्य एवं वर-कन्या को परम पवित्र उद्देश्य की ओर भी निर्देशित किया गया है। पिता कन्या को पति का सहधर्मचारिणी बनाने के लिए तथा धर्म, अर्थ, काम त्रिविध पुरुषार्थ की सिद्धि, सन्तानोत्पत्ति, यज्ञयज्ञादि पवित्र कार्यों के संपादन एवं ब्रह्मदेवर्षि पितृगण की तृप्ति के लिए वर को कन्या प्रदान करने का संकल्प करता है। इस अवसर पर वर भी धर्म, अर्थ, काम (त्रिविध पुरुषार्थ) की सिद्धि में सदा कन्या के आदर-सम्मान करने तथा साथ रहने की प्रतिज्ञा करता है।[215] गौतमधर्मसूत्र के

[214] **विवाहपद्धति, पृ0 25-27**
[215] **मनुस्मृति 9.101**

अनुसार तो वर गृहस्थाश्रम छोड़कर अन्य आश्रम में न प्रवेश कर सकता था तथा ना ही अन्य नारी का साहचर्य प्राप्त कर सकता है।[216] जलोत्सर्ग के साथ कन्यादाता के द्वारा कन्यादान करने का तात्पर्य जन्मजन्मान्तर, लोकलोकान्तर व्यापी दोनों के साहचर्य का कन्यादान माध्यम बनता है। स्कंदपुराण में तो उल्लेख है कि विवाह के समय मण्डप में विद्यमान ब्राह्मण कन्यादाता एवं उनके उभय पक्ष के बंधु बान्धव इस बात की प्रशंसा करें कि यह कन्या पति के जीवनपर्यन्त तथा उसके पश्चात् भी सहधर्मचारिणी बनी रहे।[217] मनुस्मृति जैसे स्मृतिकारों तथा मेधातिथि जैसे टीकाकारों के अनुसार मात्र कन्यादान से ही कन्या पर वर का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है तथापि इसके अग्रिम कृत्य (पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि) विवाह संस्कार की दृढ़ता में सहयोगी बनते हैं। वहीं इसी श्लोक की टीका में टीकाकार कुल्लुकभट्ट के अनुसार उभयपक्ष के परस्पर वचन के आदान-प्रदान अर्थात् वाग्दान करने मात्र से कन्या पर वर का स्वामित्व स्थापित हो जाता है तथा धर्मशास्त्र के नियम भी शौचाशौच के विषय में प्रभावी हो जाते हैं।[218]

---

[216]**गौतमधर्मसूत्र 1.4.5**
[217]**स्कंदपुराण, 4.4.52**
[218]**मनुस्मृति 5.152**

अत: कन्यादान की भूमिका प्रमुख है। बिना दान के देयवस्तु से दाता के अधिकार से समाप्ति एवं गृहीता के अधिकार की प्राप्ति नहीं हो पाती । कन्या का दान करके कन्या से पिता अपने अधिकार से वंचित होता है तथा वर को पूर्ण रूप से अधिकार प्रदान कर देता है। दान की परिभाषा भी यही कहती है कि देय वस्तु से अपने अधिकार को समाप्त कर दूसरे अधिकार को स्थापित कर देना दान है।[219]

कन्यादान विधि

कन्यादाता स्वयं पश्चिमाभिमुख होकर पूर्वाभिमुख स्थित वर को कन्यादान के लिए अमुक वस्तुएं अपने दक्षिण हस्त में धारण कर कन्यादान की योजना बनाता है। यहां यह विषय अनिवार्य एवं आवश्यक रूप से ज्ञातव्य है कि कन्यादाता दानकर्ता, वर दानप्रतिग्रहीता है। दाता सदा पूर्वाभिमुख होकर ग्रहण करता है, यह सनातन विधि है। किन्तु कन्यादान एक ऐसा दान है कि इसमें दाता एवं प्रतिगृहीता की स्थिति विलोम हो जाती है। इसमें दाता पश्चिममुख रहता है तथा गृहीता पूर्वाभिमुख रहता है। ऐसा मत निर्णयसिन्धु में गृहपरिशिष्ट द्वारा उद्धृत है।[220]

---

[219] **साभार, स्व0 गणपति शास्त्री**

[220] **निर्णयसिन्धु, पृ0 477**

इसमें कन्यादाता अपने हाथ में एक पत्रपुटक में शंख, जमाता के दाहिने हाथ पर कन्या का हाथ, पद्धति के अनुसार जमाता के दक्षिण हाथ पर कन्या के दक्षिण हाथ रखने की बात कही गयी है किन्तु प्रयोग में वर के हाथ पर कन्यादाता का हाथ होता है तथा कन्यादाता के हाथ पर कन्या का हाथ होता है एवं कन्या के हाथ पर एक पत्रपुटक में शंख, दूर्वा, अक्षत, पुष्प, चंदन, जल एवं द्रव्य रखकर प्रथमतः 'दाता' से प्रारम्भ कर 'स्वयं विधिः' पर्यन्त वाक्य का उच्चारण कर कहता है कि मैं कन्यादाता हूँ, वरूणदेव राजा है तथा द्रव्य आदित्य, सूर्य का प्रतीक है तथा जिसे कन्यादान ग्रहण करना है, वह साक्षात् विष्णु का स्वरूप है। अतः वह लक्ष्मीस्वरूपा कन्या को ग्रहण करे। कन्यादाता देशकाल संकीर्तन पूर्वक अपने गोत्र, प्रवरयुक्त नाम के साथ शर्मा, वर्मा आदि सपत्नीक कहता है कि मैं सपत्नीक अपने समस्त पितृगण के अतिशय आनन्द एवं ब्रह्मलोक प्राप्ति आदि कन्यादान कल्पोक्त फल की प्राप्ति के लिए इस वर से इस कन्या के द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले संतान से अपने पूर्व की दस वंश, पश्चात् के दस वंश एवं एक स्वयं इन इक्कीस वंशपरम्पराओं को पवित्र करने के लिए तथा श्री लक्ष्मी नारायण भगवान की प्रसन्नता के लिए ब्रह्म

विवाह विधि से कन्यादान करता हूँ। तत्पश्चात् बद्धान्जली होकर कन्यादाता कन्या की प्रार्थना करता है कि स्वर्णसम्पन्न, स्वर्णाभरण से युक्त कन्या को विष्णस्वरूप आप जैसे वर के लिए ब्रह्मलोक की प्राप्ति की इच्छा से प्रदान करता हूँ। भगवान विश्वम्भर, सभी प्राणी तथा देवता इसके साक्षी हैं कि मैं आपको यह कन्या दे रहा हूँ जिसका मूल उद्देश्य अपने पूर्वजों का उद्धार है।

तत्पश्चात् वृहत् संकल्प की वाक्य योजना बनती है जिसमें ऊँ विष्णो विष्णो से प्रारम्भ कर समग्र देशकाल संकीर्तन करते हुए ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार आदि का उच्चारण कर वर एवं कन्या उभय पक्ष के प्रपितामह से प्रारम्भ कर पितृपर्यन्त तीन वंश परम्परा के गोत्र, प्रवर, वेद तदन्तर्गत शाखा, सूत्र का उचारण कर वर की तीन वंश परम्परा में अमुक प्रपितामह के प्रपौत्र, अमुक पितामह के पौत्र तथा अमुक पिता के अमुक गोत्र, अमुक प्रवर, अमुक नाम की प्रपितामह की प्रपौत्री, पितामह की पौत्री एवं पिता की पुत्री इस वाक्य को तीन बार उच्चारण कर अमुक गोत्र, अमुक प्रवर, अमुक नाम का मैं अमुक गोत्र, अमुक प्रवर, अमुक नाम की इस कन्या को जो अच्छी तरह स्नान कर शुद्ध हुयी

यथाशक्ति अलंकारों से अलंकृत गंधादि से अर्चित दो वस्त्रों से आवृत्त प्राजपति जिसका दैवत्व है, ऐसे सौ गुना ज्योतिष्टोम, अतिरात्र जैसे सैकड़ों यज्ञों के फल को प्राप्त करने की कामना से अमुक नाम के विष्णुस्वरूप वर के पत्नी के रूप में मैं तुम्हें दान करता हूँ यह संकल्प जब से प्रारम्भ होता है तथा जब तक अंतिम वाक्य समाप्त नहीं हो जाता तब तक कन्या का भ्राता जलपात्र में जल भरकर इस प्रकार धारा प्रदान करता है कि संकल्प की समाप्ति होते-होते जलपात्र काजल भी समाप्त हो जाए। यह जल कन्यादान के पात्र थाली या परात में गिरता है। जो बाद में किसी पवित्र जगह पर वसर्जित कर गिरा दिया जाता है। तत्पश्चात् कन्यादाता इन वस्तुओं सहित कन्या का हाथ वर के हाथ पर रखकर वर को पकड़ा देता है। यही पाणिग्रहण है।[221]

कन्यादान में कन्यादाता के हाथ में कन्यादान से सम्बन्धित शंख, दूर्वा, जल आदि वस्तुओं की भी अपनी विशेषता है जो संकल्प को प्रबल करती है। जैसे-शंख एक ऐसी वस्तु है जो असंक्रमणीय परमाणुओं से प्रकृति निर्मित पदार्थ है जिसके अन्तर्गत या उससे सम्बद्ध वस्तु अन्य संक्रमणीय तत्वों के प्रभाव से प्रभावित नहीं होती। इसी प्रकार

---

[221] **विवाहपद्धति, पृ0 27-29**

दूर्वा एक ऐसी वनस्पति है जो एक स्थान पर लगकर बहुत शीघ्र विस्तृत स्थान में विस्तृत होकर सदा हरी-भरी दृष्टिगोचर होती है। अक्षत क्षति के अभाव का प्रतीक है। पुष्प, चंदन ये सौमनस्य (प्रसन्नता) के प्रतीक हैं। जल में श्रेष्ठता एवं वचनबद्धता का प्रभाव है। इन सारी बातों का आशय यह है कि इन दम्पत्तियों का जीवन शंख के समान पवित्र, दूर्वा के समान हरीतिमा एवं प्रगतियुक्त, किसी प्रकार की क्षति से अयुक्त तथा जल की तरह श्रेष्ठ जीवन प्रदान करें। सृष्टि की प्रक्रिया में सर्वप्रथम जल की ही सृष्टि हुयी। तत्पश्चात् अन्य तत्वों की सृष्टि सम्पन्न हुयी। संस्कृत में जल को 'आप' तथा अरबी भाषा में 'आब' कहा जाता है। वहीं आप आज श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार सृष्टि के तत्वों में प्रथम सृष्टि होने से जल श्रेष्ठ है उसी प्रकार हम जिसको अपने से श्रेष्ठ समझते हैं उसके लिए आप शब्द का प्रयोग करते हैं तथा आप आदर का सूचक है। शरीर में मन जलयांश है तथा जल में एकीकरण की शक्ति होती है। अर्थात् शंख से दाम्पत्य जीवन में पवित्रता, दूर्वा से दाम्पत्य जीवन में सदाशयता का विस्तार, अक्षत से दोनों के जीवन में सद्गुणों का संचय एवं जल से स्नेहमयता एवं दोनों के चित्त की

अन्योन्याश्रयता तथा दोनों के चित्त के एकीकरण सदा सर्वदा बना रहे। जिस प्रकार अन्य बहुत से द्रव्यों का एकीकृत कर नव्य, भव्य, भवन का निर्माण कर देता है, वैसे ही इन दम्पत्ति के जीवन में सद्‌गुणों, सदाचार, सद्विचार, सद्धर्म, सतकर्म से सदा नव जीवन के निर्माण का भाव बना रहे।[222]

विवाह की प्रथम एवं प्रबल क्रिया पाणिग्रहण है जो विवाह का पर्यायवाचक भी है। इसमें अनेक वस्तुओं के साथ-साथ जल की धारा इसके संकल्प की परिसमाप्ति तक गिरते रहने से ही कन्यादान का संकल्प पूर्ण होता है। महाभारत में यह बात कही गयी है कि पाणिग्रहण के मंत्रों के निष्ठा यद्यपि सप्तपदी पर्यन्त होती है तथापि पाणिग्रहण के जल के द्वारा सम्पन्न होने से कन्या के भार्यात्व सम्पन्न होने से दृढ़ता आती है। जल के बिना कोई संकल्प पूर्ण नहीं होता है।[223]

इसी प्रकार कन्यादान में उभय पक्ष के प्रपितामह से प्रारम्भ कर त्रिपुरुषों का नाम जोड़ना त आवश्यक होता है। नान्दीश्राद्ध एवं कन्यादान में यह तीन वंश परम्परा प्रपितामह से प्रारम्भ होकर पिता तक आती है अर्थात् प्रपितामह प्रथम, पितामह द्वितीय तथा

---

[222]**साभार गणपति शास्त्री**
[223]**महाभारत, अनुशासनपर्व 44.53**

पिता तृतीय कोटि में आते है जबकि अन्य कृत्यों में इसका विलोम पिता प्रथम, पितामह द्वितीय तथा प्रपितामह तृतीय कोटि में होते हैं। जैसाकि निर्णयसिन्धु में स्मृत्यर्थसार ग्रंथ का मत है।[224]

इस प्रकार कन्यादान, पाणिग्रहण सम्पन्न होने के पश्चात् जब कन्यादाता वर के हाथ पर कन्या का हाथ रखकर ग्रहण करा देता है तो वर "ॐ द्योस्त्वा" से "प्रतिगृह्णातु " पर्यन्त वाक्य बोलता हुआ कन्या का हाथ ग्रहण करता है तथा कन्यादाता के कल्याण के लिए "ॐ स्वास्ति" बोलता है। तत्पश्चात् कन्यादाता वर को निर्देशित करता है कि जो भी धर्म का कार्य आप करेंगे वह इसके साथ करेंगे। धर्म, अर्थ एवं काम से सम्बन्धित कार्य करते समय आप इसका अनादर नहीं करेंगे। वर वचन देता है कि मैं अनादर नहीं करूंगा तत्पश्चात् 'कोदत्' से प्रारम्भ कर 'कामैतत्ते' पर्यन्त इस मंत्र का उच्चारण करता है। कन्यादाता का निर्देश तथा इस मंत्र का उच्चारण तीन बार किया जाता है जिससे कि इस प्रक्रिया में दृढ़ता आ जाये । तत्पश्चात् कन्यादाता 'गौरी कन्यामिमां से प्रारम्भ कर "पुत्र-पौत्र-प्रवर्धिनी" पर्यन्त प्रार्थना करता है कि हे विप्र ! यथाशक्ति वस्त्रालंकार से विभूषित इस कन्या को मैंने आपको

---

[224]**निर्णयसिन्धु, पृ0 477**

समर्पित कर दिया, आप इसे ग्रहण करें। कन्या मेरे आगे, पीछे, दायें तथा बायें हो। तुम्हारे दान ग्रहण करने से मैं मोक्ष की प्राप्ति करूंगा। मेरे वंश में उत्पन्न होकर आज तक मैंने जिसका पालन पोषण किया उसे आज मैंने तुम्हें दे दिया। ये तुम्हारे पुत्र, पौत्र की वृद्धि करेगी। कन्यादान की सांगता के लिए वर को यथाशक्ति प्रत्यक्ष गोदान या तननिष्क्रियभूत उसके बदले दक्षिणा देता है। कन्यादाता एवं वर दोनों गोमाता की प्रार्थना कर यह कहते हैं कि हे गोमाता आप पुण्य की साधन है। समग्र विश्व के पापपुंज का विनाश करने वाली हैं। विश्वरूप को धारण करने वाले भगवान विष्णु इस गोदान से प्रसन्न हो। ततः कन्यादाता कन्यादान कर्म में किसी न्यूनता जैसे दोष के निवारण तथा कन्यादान की सफलता के लिए 'भूयसी दक्षिणा' का संकल्प कर मण्डप में स्थित उभय पक्ष के ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान कर भगवान विष्णु की प्रार्थना कर कहते हैं कि हे प्रभु किसी भी यज्ञादि कर्म में प्रमादवश यदि कोई त्रुटि हो जाती है तो वह आपके मंगलमय नाम के स्मरण मात्र से पूर्ण हो जाता है जिसके नाम के उच्चारण करने से तप, यज्ञ आदि क्रियाओं में हुयी त्रुटि तत्काल सम्पनन हो जाती है, अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ। लोकाचार के अनुसार कहीं-कहीं

कन्यादाता पिता-माता साथ ही परिवार के अन्य सदस्य एवं यथेच्छुक लोग भी वर-कन्या का पाद प्रक्षालन करते हैं।

तत्पश्चात् माता-पिता द्वारा प्रदत्त कन्या के हाथ को पकड़कर "ॐ यदैषि" इत्यादि मंत्र को पढ़ते हुए कन्या का नाम लेते हुए वर वहां कन्यादाता के पास से कन्या को अपने पास दाहिने तरफ बैठा लेता है। वेदी के दक्षिण भाग में जल से परिपूर्ण कलश अपने कंधे पर रखकर एक मौन बलिष्ठ पुरुष खड़ा रहता है। इसे 'दृढ़कलश' कहा जाता है। इसका आशय मात्र इतना है कि मण्डप में होमादि के अन्तराल यदि कोई आवांछित अग्नि प्रकोपादि हो जाये तो यह बलिष्ठ दृढ़ पुरुष अपने कंधे पर स्थापित जल से परिपूर्ण घट के जल का सदुपयोग कर सके। इसके साथ ही इस घर के जल का उपयाग अग्रिम क्रमानुसार अभिषेक के रूप में भी किया जाता है। तत्पश्चात् कन्यादाता "परस्परं समीक्षेथां" यह वाक्य बोलते हुए कहे कि तुम दोनों एक-दूसरे की ओर देखो। वर "ॐ अघोर चक्षु" से "बहवो निविष्टयै" पर्यन्त इस मंत्र का उच्चरण करते हुए दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं। तत्पश्चात् अग्नि की प्रदक्षिणा करके अग्नि के पश्चिम दिशा में

तृणमूल (घास से बना आसन) अथवा कट (चटाई) के आसन पर अपने दक्षिण (दायें) भाग में वधू को बैठाकर वर स्वयं बैठ जाता है। तत्पश्चात् देशकाल संकीर्तनपूर्वक अपने गोत्र नाम का उच्चरण कर कन्या ग्रहण रूप की निवृत्ति तथा शुभफल की प्राप्ति के लिए वर ब्राह्मण को गोदान करता है। व्यवहार दशा में घास निर्मित आसन या कट का प्रयोग नहीं दिखता, अपितु मंगलपीठ (आम की लकड़ी से बना वैवाहिक पीढ़ा) का आसन होता है। लोकाचार के अनुसार कहीं वर एवं वधू के लिए अलग-अलग पीढ़े होते हैं तो कहीं दोनों के लिए एक ही पीढ़ा होता है। उसी पर दक्षिण या वामभाग में प्रक्रियानुसार वर-वधू बैठते हैं। (वधू को वर के किस कार्य में दाहिने एवं किस कार्य में बाएं होना चाहिए इसका निश्चय करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं कि यज्ञोपवीत भोज सीमन्त संस्कार, विवाह, चतुर्थीकर्म, यज्ञ, दान, व्रत, श्राद्ध इन कार्यों में पत्नी, पति के दाहने रहनी चाहिए। कन्यादान के समय वह कन्या रहती है, घृतहोम के समय सुमंगली हो जाती है। जब वाम में आती है तो उसका नाम भार्या हो जाता है तथा चतुर्थीकर्म में वह पत्नी हो जाती है। अभिषेक, ब्राह्मण के पाद प्रक्षालन में पत्नी वाम भाग (बायें) होती है। अत: इसके पश्चात् हवन कार्य

(घृतहोम) प्रारम्भ होगा इसलिए अब से सिंदूरदान पर्यन्त वह दक्षिण भाग (दायें) में ही रहनी चाहिए।

पुनः कर्तव्य विवाह होम कर्म में आचार्य का कार्य करने के लिए यथोपलब्ध वरण सामग्री से आचार्य का वरण तथा इसी प्रकार कर्तव्य होम कर्म में क्रिया, शुद्धि, अशुद्धि के निरीक्षण एवं सत्परामर्श के लिए ब्रह्मा के रूप में किसी ब्राह्मण का वरण किया जाता है तथा दोनों से करबद्ध होकर प्रार्थना की जाती है। वे आचार्य एवं ब्रह्म वरण के पश्चात् 'वृतोऽस्मि' अर्थात् मेरा वरण कर लिया गया। तत्पश्चात् "ॐ व्रतेन" इत्यादि मंत्र का वचन होने पर वर दोनों ब्राह्मणों से कहते हैं कि आप लोग जैसा विधान है वैसा कर्म करें। वे ब्राह्मण भी कहते हैं कि हमलोग अपने ज्ञान के अनुसार अपने कर्म का निष्पादन करेंगे।[225]

17. होम (हवन)

वैदिक विधि से कुशकण्डिका सम्पन्न कर अपने गोत्र, प्रवर नाम के साथ देशकाल संकीर्तन कर यह संकल्प करता हूँ कि मैं कन्यादान में प्राप्त इस वधू में भार्यात्व (पत्नीत्व) की सिद्धि के लिए वैवाहिक हवन करता हूँ। तत्पश्चात् "ॐ प्रजापतये स्वाहा" इस

---

[225] **विवाहपद्धति, पृ0 29-32**

आधार मंत्र से प्रारम्भ कर "ॐ स्व स्वाहा" इस महाव्याहृति तक 6 मंत्र तथा " ॐ त्वन्नो" से प्रारम्भ कर " अदितये स्वाहा" पर्यन्त इन आघार महाव्यरहृति एवं प्रायश्चित संज्ञक मंत्रों से कुल 12 आहुतियां करने के पश्चात् " ॐ ऋताषाड्" से प्रारम्भ कर "ताभ्य:स्वाहा" पर्यन्त इन 12 राष्ट्रभृत होम तथा " ॐ चित्तं च स्वाहा" से प्रारम्भ कर "जयानिन्द्राय न मम्" इन 13 जया संज्ञक मंत्रों से होम कर पुन: "ॐ अग्निभूर्तनाम" से प्रारम्भ कर 6 "देवत्वा ग्वं स्वाहा" पर्यन्त 18 अभ्यातान् संज्ञक मंत्रों (प्रारम्भिक तीन मंत्र यम सम्बन्धी, चौदह मंत्र रूद्र के तथा एक मंत्र पितृगण सम्बन्धी, कुल अट्ठारह अभ्यातान संज्ञक मंत्र हैं।) से हवन के पश्चात् "ॐ अग्निरैतु" से प्रारम्भ कर ""इदं वैवस्वताय न मम" पर्यन्त चार अग्निदेव के मंत्रों का हवन सम्पन्न होता है। अन्त:पट का हवन मृत्यु देवता के निमित्त है। इस मंत्र के श्रवण एवं हवन का दर्शन वधू के द्वारा नहीं होना चाहिए इसलिए अग्नि एवं वधू के बीच पटावरण कर दिया जाता है तथा मृत्यु देवता के मंत्र का उच्चारण मण्डप में वर-वधू के समक्ष नहीं करके ब्राह्मणों द्वारा मौन पाठ किया जाता है।[226]

इन वैवाहिक हवनों के मंत्रों द्वारा वर के

---

[226] **विवाहपद्धति, पृ0 36-41**

कल्याण हेतु विभिन्न देवताओं एवं पितृगण से अनिष्टकारी एवं अज्ञात शक्तियों के अनिष्ट निवारण की प्रार्थना की गयी है। नववधू के सुखमय जीवन एवं उसके संतानों के दीर्घायुष्य के लिए भी यह हवन किये जाते हैं। हवन के ये मंत्र बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। सम्भवत: प्राचीनकाल में नवजात शिशुओं की मृत्यु अधिक मात्रा में होने से उनके निवारण हेतु विवाह संस्कार में नववधू की संततियों के अपमृत्यु को बाधित करने के लिए भी इन मंत्रों में प्रार्थनाएं हैं। विवाह संस्कार में हवन का एक विशिष्ट तात्पर्य अग्नि सानिध्य से भी है, क्योंकि महाभारत के अनुशासनपर्व में कहा गया है कि स्त्री का धर्म पूर्ण विवाह में स्त्री के बंधु-बांधव द्वारा हो जाता है किन्तु सहधर्मचारी पत्नी तो अग्नि के समीप ही बनती है|[227]

18. लाजाहोम

इस हवन के पूर्व वर के द्वारा किये गये सामान्य हवन के पश्चात् यह लाजाहोम का विशेष व किया जाता है। लाजाहोम का तात्पर्य धान का लावा तथा समीपत्र मिश्रित कर इस हवन के मंत्रों से वधू एवं वर दोनों सम्मिलित होकर वधू के भ्राता के सहयोग

---

[227]**महाभारत, अनुशासनपर्व 146.34**

से हवन करते हैं। इस हवन के सभी मंत्र तथा इसके साथ सम्पन्न होने वाली क्रियाएं अतिशय भावगम्य एवं विशिष्ट अर्थ से परिपूर्ण हैं। कन्या अपनी अंजलि में समीपत्रमिश्रित लाजा को लेकर परिपूर्णचित्त से अग्नि देव से प्रार्थना कर कहती है कि - हे अग्निदेव आप मुझे पितृगृह से वियुक्त होने की शक्ति तथा पतिगृह में दृढ़तर अनुरक्ति प्रदान करें। इस प्रकारर वर-वधू के आगे वधू पूर्वाभिमुख एवं कन्या का भ्राता वर के दक्षिण उत्तराभिमुख खड़ा हो वस्त्र को पोटलिका में उभय पक्ष के समी सहित घृत एवं पलाशपत्र मिश्रित लाजा को रखकर जैसे आचार्य होम का मंत्र पढ़ते है। वैसे ही मंत्र की समाप्ति पर कन्या का भ्राता कन्या के हाथ में रखे सूप में लाजा छोड़ता है तथा वधू का हाथ वर पकड़े रहता है। मन्त्रान्त स्वाहा होने पर वर-वधू के माध्यम से वह लाजा अग्नि पर गिराता है। लाजाहोम के कुल तीन मंत्र हैं जिनसे तीन-तीन बार हवन करने से नौ लाजा आहुति होती है। लाजा होम के साथ-साथ सांगुष्ठ हस्तग्रहण (वर के द्वारा वधू के दाहिने हाथ के अंगुष्ठ सहित हाथ को पड़ना) तीन बार करता है। ततः तीन बार अश्मारोहण (पत्थर पर वधू का पैर पड़ना) तथा गाथागान तत्पश्चात् चार बार अग्नि प्रदक्षिणा होती है। इस

प्रकार लाहाजोम, सांगुष्ठहस्तग्रहण, अश्मारोहण तथा गाथागान ये चारों क्रियाए साथ-साथ चलती हैं। कहीं-कहीं लोकाचार में पाँच या सात बार भी ब्राह्मण अग्नि प्रदक्षिणा करा देते हैं। किन्तु वस्तुतः शास्त्रीय प्रदक्षिणा चार बार ही होती है। जिसमें तीन प्रदक्षिणा में वधू आगे रहती है, वर पीछे रहता है तथा चौथी परिक्रमा में वर आगे तथा वधू पीछे रहती है। इसमें विशेष उल्लेखनीय है कि विवाह संस्कार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की सिद्ध का प्रमुख द्वार है। इन चार पुरुषार्थों में तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम में पत्नी को प्रमुख योगिनी बनकर आगे रहना होता है। चतुर्थ पुरुषार्थ में पत्नी का योगदान कम पुरुष का योगदान पूर्ण होता है। इसलिए चौथी प्रदक्षिणा में वर को आगे होना पड़ता है।

लाजाहोम के प्रथम मंत्र "ॐ अर्यमणं" इत्यादि के माध्यम से वधू अग्निदेव से प्रार्थना करती है ' कि मेरे पति के ऊपर प्रेत का प्रभाव न हो। हे अग्निदेव प्रेत मेरे पति को छोड़ दें । द्वितीय मंत्र "ॐ इयं" इत्यादि का आशय यह है कि लाजा का हवन करने वाली वधू अग्निदेव से निवेदन करती है कि मेरे पति दीर्घायु हो तथा मेरे बंधु बांधव उन्नति के मार्ग में सदा अग्रसर रहें। तीसरा मंत्र 'इमांलाजा' इत्यादि के

तात्पर्य से वधू कहती है कि हे अग्निदेव इन लाजों को आप में समर्पित करती हूँ। आप हम दोनों के जीवन सुखमय `व्यतीत होने की अनुमति प्रदान करें। इन लाहाहोम से दोनों के जीवन में मधुरता एवं सुख शांति में उर्वरता आती है। इस तरह तीन बार लाजाहोम करने के पश्चात् वर-वधू के सांगुष्ठहस्त को अग्नि के समक्ष "ॐ गृभ्णामि" इत्यादि मंत्र से ग्रहण करता है। यह भी पाणिग्रहण ही है।

इसके मंत्र का तात्पर्य में वर कहता है कि मैं तुम्हारा पति होने के कारण सौभाग्य की प्राप्ति के लिए तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। तुम वृद्धावस्था तक मेरा साहचर्य निर्वहन करना । तुम केवल अपने द्वारा ही नहीं अपितु भग, भर्यमा, सविता तथा पुरिन्द्र इन लोगों के साक्ष्य से इन लोगों के द्वारा तुम गार्हस्थ के निर्वाह के लिए प्राप्त हो। मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरी हो, मैं साम हूँ, तुम ऋक हो, मैं द्यौ आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो, हम दोनों विवाह करते हैं। हम दोनों वीर्य धारण करेंगे, संतान उत्पन्न करेंगे तथा हमारे बहुत से पुत्र होंगे। हम लोग वृद्धावस्था तक एक दूसरे के प्रिय बने रहेंगे। एक-दूसरे को प्रिय लगने वाले कार्य करेंगे तथा एक-दूसरे को प्रसन्न रखने का प्रयास करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहेंगे एवं सौ वर्षों तक हममें अच्छी बातों के सुनने की क्षमता बनी

रहें। तत्पश्चात् पूर्व से वहां रखे हुए पत्थर (लोढ़ा) पर वर-वधू के दाहिने पैर को "ॐ आरोहे" इत्यादि मंत्र से रखवाता है जिसका तात्पर्य है कि मैं तुम्हारे पैर को पत्थर के ऊपर इसलिए रखवाता हूँ जिसका तात्पर्य है कि गार्हस्थ्य जीवन में पति भक्ति एवं पतिव्रत के निर्वाह में पाषाण की भांति ही अचल रहे। साधन (कारण) पहले, साध्य (कार्य) पश्चात् सम्पन्न होता है। इसी प्रकार गार्हस्थ्य जीवन का प्रमुख साधन स्त्री है, क्योंकि गार्हस्थ्य जीवन में सम्पन्न होने वाले सभी यज्ञयाग, अतिथि सुश्रुषा, पारिवारिक एवं सामाजिक कृत्य बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं हो सकता। यह तो अविस्मरणीय है कि जनक नन्दिनी जानकी के साथ नहीं रहने पर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम को स्वर्णमयी सीता का निर्माण कराकर अपने दक्षिण भाग में रखना पड़ा। अतः पत्नी गार्हस्थ्य धर्म एवं जीवन की आधारशिला है।

अर्थ के सम्बन्ध में भी पत्नी की प्रमुख भूमिका होती है। पति चाहे जितना धन अर्जित करे किन्तु उसकी उचित सदुपयोग करते हए धन संचय पत्नी पर ही आधारित है। सुलक्षणा पत्नी सीमित आय में भी निर्वाह करती हुयी संचित करने का ही प्रयास करती है। काम का तो प्रमुख माध्यम ही

पत्नी है इसलिए उस पर निर्भर तीन पुरुषार्थ की प्रदक्षिणा में उसे आगे किया जाता है। चौथी परिक्रमा चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) का अग्रणी पुरुष होता है इसलिए इस परिक्रमा में वह आगे रहता है। मोक्ष रूप पुरुषार्थ की सिद्धि में पत्नी साधक नहीं बाधक होती है। हमारे प्राचीन भारतीय वांगमय में तो ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें सतत् साधना सम्पन्न परम विरागी भगवत् अनुरागी महापुरुष भी नारी के अनुपम सौन्दर्य, माधुर्य एवं मोहमयी, मायामयी मूर्ति से प्रभावित विचलित हो गये तथा अपने प्रमुख लक्ष्यों से वंचित रह गये। अतएव यह कहा गया है कि मुक्तिमार्ग के पथिक को नारी का स्पर्श भी नहीं करना चाहिए जिसे प्रकार हस्तिनी के अंग स्पर्श से हाथी बंधन में आ जाता है उसी प्रकार काष्ठमयी नारी का भी स्पर्श हो गया तो तपस्वी का तप भंग हो जाता है। इन चार प्रदक्षिणाओं से पति-पत्नी के समक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए मानों संकल्प ग्रहण करता है। इस प्रकार भारतीय हिन्दू विवाह संस्कार की परिणति अंतत: मोक्ष में ही होती है। अत: विवाह भी सदाचार, सद्विचार, सधर्म सत्कर्म के माध्यम से मोक्ष का भी साधन है।

अभी पाषाण पर वधू के आरूढ़ रहते हुए ही वर

“ॐ सरस्वति" इत्यादि मंत्र से गाथागान करता है। गाथागान के माध्यम से नारी समुदाय के उत्तम यश का वर्णन करते हुए कहता है कि तुम सरस्वती, सौभाग्यशाली, एश्वर्यमयी तथा इस समग्र विश्व के प्राणियों की रक्षा के लिए अग्रसर रहती है। नारी से ही समग्र प्राणियों की उत्पत्ति होती है तथा नारीस्वरूपा प्रकृति में ही यह विश्व गतिशील है। इसीलिए इस गाथा का गान मैं करता हूँ जो स्त्री समुदाय का उत्तम यश है। तत्पश्चात् आगे वधू एवं पीछे वर अग्नि की प्रदक्षिणा “ॐ तुभ्यम” इत्यादि मंत्र को पढ़ते हुए करते हैं। इस प्रकार लाजाहोम, सांगुष्ठहस्तग्रहण, अश्मारोहण, अश्मारोहण, गाथागान तथा अग्नि प्रदक्षिणा ये पांचों क्रियाएं तीन बार साथ -साथ क्रम से सम्पन्न होती है। इसके पश्चात् बचे हुए लाजों को कन्याभ्राता सूप में छोड़ देता है तथा “ ॐ भगाय स्वाहा” इस मंत्र से वे सम्पूर्ण लाजे को अग्नि में एक साथ स्वाहा बोलकर छोड़ दिये जाते हैं।[228]

19. सप्तपदी

सप्तपदी शब्द का शाब्दिक तात्पर्य "सात पदों वाली” होती है। पद शब्द का तीन अर्थ प्रथम 'पैर' द्वितीय

---

[228] विवाहपद्धति, पृ0 42-44

'शब्द' तथा तृतीय 'स्थान' होता है। इस परिप्रेक्ष्य में वैवाहिक संस्कार के निष्पादक प्रमुख कृत्य के रूप में सप्तदी प्रसिद्ध है। इस क्रम में वर के द्वारा वधू को सात स्थानों पर पैर रखवाना तथा सात वचनों को वर के द्वारा स्वीकार करना, इसमें दोनों ही कृत्य कराये जाते हैं। अतः इसे सप्तपदी कहा जाता है। धार्मिक संस्कार की प्रक्रिया में भी सप्तपदी का अविकल स्थान है। यह सप्तपदी भारतीय संविधान में भी विवाह की परिपूर्णता के लिए मान्य है।

सप्तपदी कृत्य से विवाह संस्कार तो पूर्णतया सम्पन्न होता ही है, वर तथा कन्या दोनों से दाम्पत्य जीवन की सुखमयता एवं सम्यक् प्रकार से सम्पन्नता के लिए भी आवश्यक है। इसलिए कि वर के साथ सात कदम चलना दोनों के सख्यभाव की ओर संकेत करता है। विवाह संस्कार में सप्तपदी की प्रमुखता का एक और भी विशिष्ट कारण यह है कि इसके पूर्व में निष्पन्न वर-वधू का दाम्पत्य भाव इसके सम्पादन के साथ ही पूर्णतः परिनिष्ठित हो जाता है तथा वर पूर्णरूपेण वधू का पति बन जाता है तथा कन्या अपने गोत्र से दूसरे गोत्र की बन जाती है।[229]

सप्तपदी विधि के अनुसार मण्डप में हवन करते समय गिरे हुए लाजों के दक्षिण से उत्तर क्रम

[229]**नारदस्मृति, 14.81**

हो सात लाजा पुंज बनाये जाते हैं। उस सात पुंजों पर क्रमशः वर-वधू के दाहिने पैर को निम्न सात वचनों से रखवाता है। इसमें पद के तीनों तात्पर्यों की संगति हो जाती है कि पैर रखवाना, शब्द से सात वचनों को बोलना एवं स्थान के सात लाजा पुंज के स्थान को वर द्वारा वधू के दाहिने पैर से स्पर्श कराना। सप्तपदी के सात पद इस प्रकार हैं-

1- इस सप्तपदी के क्रम में अन्न संस्कार के भरण-पोषण का मुख्य साधन है। जोकि गृहस्थ का मुख्य अंग है। जिससे गृहस्वामी स्वयं एवं परिवार, अतिथि, साधु सभी का भरण-पोषण करता हुआ जीवन यापन करता है। सर्वप्रथम वर-वधू को अन्न की प्राप्ति, अन्न की सम्पन्नता तथा संग्रह आवश्यकता होती है। इस सप्तपदी के क्रम में प्रथम वचन है। "एकमिषे विष्णुस्त्वानायतु" है। इस मंत्र द्वारा वर-वधू का पैर प्रथम लाजापुंज पर रखवाता है। मंत्र का तात्पर्य है कि हे सुभगे भगवान विष्णु तुम्हें अन्न की सम्पन्नता एवं उसकी रक्षा के लिए प्रथम स्थान-स्थान प्राप्त करायें तथा अन्न की रक्षा का कर्तव्यभार निर्वाह करने में सफल रहो।

2- द्वितीय वचन में गृहस्थिति का सफल निवर्हन के

लिए बल की आवश्यकता होती है। बल-वीर्य से सम्पन्न दम्पत्ति की सफल दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर सकते है। तथा स्वस्थ्य बल सम्पन्न संतान उत्पन्न कर राष्ट्र की रक्षा में भी योगदान कर सकते हैं। इसलिए गृहस्थिति की ओर वधू का दूसरा कदम बढ़ाने की प्रेरणा करता हुआ वर द्वितीय वचन "द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वानायतु" यह मंत्र बोलता है जिसका तात्पर्य है कि हे सुभगे ! भगवान विष्णु तुम्हें बल वीर्य की प्राप्ति के लिए गृहस्थिति के द्वितीय स्थान को प्राप्त करायें। ,

3- गृहस्थिति को तीसरा साधन धन है। बिना धन तथा आर्थिक सम्पन्नता के कोई कदम आगे नहीं बढ़ सकता है तथा दाम्पत्य जीवन में सुख-साधनों की सम्पन्नता नहीं हो सकती । पुरुष तो धनार्जन करता है किन्तु उसके संचय का भार तो सुलक्ष्णा पत्नी के ही ऊपर करता है। जिससे गृहस्थिति के तृतीय वचन 'त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वानायतु" जिसका तात्पर्य है कि भगवान विष्णु तुम्हें धन के लिए तृतीय स्थान की प्राप्ति करायें।

4- चतुर्थ वचन के अनुसार पदाक्रमण (पैर रखने का उद्देश्य सुख है। इस भौतिक सुख की प्राप्ति के

लिए ही दम्पति विविध प्रकार के प्रयत्न करते हैं। तथापि सुख बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है उसी सुख की इच्छा जागृत होना तथा प्राप्त करना अनिवार्य होता है। जिसके लिए वर चतुर्थ वचन “चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वानयतु” अर्थात् सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए भगवान विष्णु गृहस्थिति के चतुर्थ साधन सुख को प्राप्त करायें। इस तरह वधू का पैर चौथे पुंज पर रखवाता है।

5- गृहस्थिति के साधन हाथी, घोड़ा, बैल, गाय आदि पशु भी होते हैं जिनसे ग्रहस्थिति के संचालन में सुविधाएं प्राप्त होती है। इसलिए गृहस्थिति के साधन पशुधन की रक्षा की ओर वधू का ध्यान आकृष्ट करते हुए पांचवा वचन "पंच पशुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु” अर्थात् पशु सम्पदा की रक्षा के लिए भगवान् विष्णु गृहस्थिति के पाँचवे स्थान को प्राप्त करायें। यह कहकर पांचवे लाजापुंज पर वर-वधू का पैर रखवाता है।

6- संसार का व्यवहार ऋतुओं के अनुसार सम्पन्न होता है। संसार चक्र के संचालन में ऋतुओं से स्वास्थ्य से लेकर आहार-विहार तथा कृषि-व्यापार सभी संचालित होते हैं। ऋतुओं तथा उनके प्रभावों

को समझते हुए व्यवहार करने से मनुष्य स्वस्थ्य सम्पन्न एवं प्रसन्न रह सकता है। स्वयं के लिए तो मनुष्य सावधान रह सकता है किन्तु परिवार एवं पशुओं की स्वास्थ्य रक्षा के लिए ऋतुओं के प्रभाव को ध्यान रखना उपयुक्त होता है। अतः गृहस्थिति के साधन ऋतुचर्या की ओर वधू ध्यान आकृष्ट करते हुए वर छठे वचन " षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु" अर्थात् छः ऋतुओं के प्रभाव के परिज्ञान एवं पालन करने के लिए भगवान विष्णु तुम्हें गृहधर्म के छठें स्थान की प्राप्ति करायें। ऐसा कहकर छठें लाजापुंज पर वर-वधू का पैर रखवाता है।

7- पूर्वोक्त छः गृहधर्म के स्थानों पर पैर रखने के पश्चात् वधू वर की परिपूर्ण रूप से अर्धांगिनी बन जाती है तथा वर के साथ पूर्णमित्रता स्थापित कर लेती है। इस प्रकार स्त्री के पूर्ण उत्तरदायित्व एवं उसके सम्मान को ध्यान में रखना चाहिए। उसे केवल सेविका नहीं समझना चाहिए । यों तो कुशल गृहिणी स्त्री स्वामिनी सत्परामर्शदात्री, माता, पत्नी, दासी एवं सेविका सभी दायित्वों का निर्वहन करती है। गृहस्थिति के कार्य में मंत्री जैसा परामर्श देती है। सुश्रुषा में सेविका जैसी सेवा करती है। स्नेहकार्य में माता जैसा स्नेह तथा सांसारिक सुखपोभोग में

अर्धांगिनी होती है। पत्नी का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है । इन संकेतों की ओर सत्पुरुषों का ध्यान जाना चाहिए तथा नारी उचित सम्मान ध्यान में रखते हुए ही दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करना चाहिए। इस आशय को ध्यान में रखते हुए वर-वधू के लिए सातवां वचन " सखे! सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानायतु" अर्थात् हे मित्रे! अब तुम मित्रता की प्राप्ति के लिए सातवाँ पद आगे बढ़ाओ तथा सदा मेरे अनुकूल व्यवहार करना। भगवान विष्णु तुम्हें इस मित्रता के लिए सप्तम स्थान की प्राप्त करायें।

इन सातों वचनों को वधू सहर्ष स्वीकार करती है तथा वर की सहधर्मिणी, सहचारिणी एवं पूर्णअर्धांगिनी बन जाती है। दोनों आत्माओं का एकीकरण होकर दोनों परस्पर अभिन्न एवं अन्योन्याश्रित हो जाते हैं। यह वैदिक सप्तपदी सम्पन्न हुयी। इसे लौकिक सप्तपदी के रूप में प्रथम कन्या की ओर से सात वचन वर से स्वीकृत कराये जाते हैं। तत्पश्चात् वर के द्वारा पंच वचन कन्या से स्वीकृत कराये जाते हैं। जो इस प्रकार हैं-

1- "लब्धोऽसि" से प्रारम्भ कर "एकमिषे वदेत" अर्थात्

कन्या कहती है कि हे स्वामी मैंने विविध प्रकार के पुण्य अर्जित किये तथा देवी-देवताओं की पूजा की तो आप मुझे प्राप्त हुए। मेरे लिए आप सदा वंदनीय है किन्तु इस बात का ध्यान रखियेगा कि संसार के जीवन चक्र में सुख एवं दु:ख आया-जाया करते हैं। दु:ख का मूल सुख तथा सुख का मूल दु:ख है। अत: ऐसा न हो कि सुख के वातावरण में आप मेरा सम्मान करें तथा दु:ख के वातावरण में अनादर करें।

2- " वापी-कूप-तड़ागानि" से प्रारम्भ कर " वदेत" पर्यन्त अर्थात् बड़ा कूप (कूआं), छोटा कूप, तालाब आदि के निर्माण तथा यज्ञयाग के सम्पादन, यात्रा पर्यटन, महोत्सव बिना मुझे बताये आप ये कार्य नहीं करेंगे।

6 3- "व्रतोध्यापन" से प्रारम्भ कर "वदेत" पर्यन्त अर्थात् किसी भी प्रकार का कोई व्रत या व्रता उद्यापन, दान करना ये बातें पुरुषों की अपेक्षा स्त्री में स्वाभाविक होती है। आप हमारे इस तरह के किसी भी कार्य के सम्पादन में मना नहीं करेंगे।

4- "स्वकर्मणा" से प्रारम्भ कर "वदेत" पर्यन्त अर्थात् आप अपने कर्म (वृत्ति, पेशा) जिससे जो भी वृत्त

अर्जित करेंगे, पशु, धन, धान्य की प्राप्ति करेंगे। वह सब मुझे निवेदित करेंगे।

5- "गजाऽश्वादि" से प्रारम्भ कर "संवदेत" पर्यन्त अर्थात् गज, अश्व आदि पशुओं एवं किसी भी प्रकार की चल-अचल सम्पत्ति की हेयता (अनुपयोगिता) एवं उपादेयता (उपयोगिता) का कोई भी कार्य बिना मेरे संज्ञान के नहीं करेंगे।

6- " भूषणानि" से प्रारम्भ कर "संवदेत" पर्यन्त अर्थात् इस मण्डप में चित्र-विचित्र रत्नजड़ित धातुमय आभूषण एवं विविध प्रकार के वस्त्र सौन्दर्य-प्रसाधन आदि जो मण्डप में मुझे दे रहे हैं। इसको देकर कभी वापस नहीं लेंगे।

7- "गीत-वादित्र" से प्रारम्भ कर " प्रतिपालयेत" पर्यन्त अर्थात् गाना, वाद्य या कोई भी मांगलिक कार्य किसी अपने करीबी के यहां पड़ जाये तो मुझे वहां न भी बुलाया जाये तथा मैं चली जाऊँ तो आप मुझे अपमानित नहीं करेंगे।

वधू के इन सातों वचनों को स्वीकार करने के पश्चात् वधू से वर भी अपने पांच वचनों को स्वीकार

कराता है-

1- 'क्रीड़ा-शरीर" से प्रारम्भ कर " प्रेषितभर्तृका" पर्यन्त किसी भी प्रकार की क्रीड़ा, किसी भी प्रकार के सौंदर्य प्रसाधनों से सुसज्जित होना, किसी भी सामाजिक उत्सव या कार्य में सम्मिलित होना अथवा किसी दूसरे के घर जाना। यह सब कार्य तभी होगा जब मैं अपने गृह पर रहूँ।

2- 'विष्णुर्वैश्वनारः" से प्रारम्भ कर "ममागता:" पर्यन्त भगवान विष्णु, वैश्वानर, अग्निदेव मण्डप में उपस्थित ब्राह्मण, दोनों पक्ष के बंधु-बांधव तथा ध्रुवतारा ये सभी लोग इस बात के साक्षी हैं कि तुम्हें मेरे इन वचनों को स्वीकार करना होगा।

3- "तव चित्तं" से प्रारम्भ कर " वरानने" पर्यन्त अर्थात् हे सुमुखी! तुम्हारा चित्त मेरे चित्त में, मेरा चित्त तुम्हारे चित्त में एकाकार होकर रहेगा। दोनों के शरीर दो किन्तु चित्त एक होगा। कभी मेरी वाणी का उल्लंघन मत करना। इन नियमों का सदा पालन करना ।

4- "मम तुष्टिश्च" से प्रारम्भ कर " पातिव्रतपरायणे"

पर्यन्त अर्थात् मेरी संतुष्टि का ध्यान रखना तथा हमारे परिवार के सदस्यों की संतुष्टि का ध्यान रखना। मेरी आज्ञा का परिपालन करना, यही पतिव्रता नारी का धर्म तथा आदर्श है।

5- “विना पत्नी” से प्रारम्भ कर " वामांगामिनी” पर्यन्त अर्थात् बिना पत्नी के गृहस्थाश्रम धर्म को नहीं निभाया जा सकता है। इसलिए तुम विश्वस्त होकर मेरी वामांगामिनी (पत्नी) हो गयी अर्थात् मेरे बाएं तरफ आकर बैठो।

ये सप्तवचन दम्पत्ति के पारस्परिक अत्यन्त प्रबल धार्मिक अनुबन्ध हैं। वैधानिक अनुबन्ध तो व से भंग भी हो सकते हैं किन्तु यह धार्मिक अनुबंध अखण्डनीय होता है। दम्पत्ति द्वारा इसे खण्डित नहीं किया जा सकता है। तत्पश्चात् दृढ़ पुरुष के स्कंद पर स्थित कुम्भ के जल से पल्लव के द्वारा जल लेकर वर-वधू का अभिषेक (जल छिड़कता) करता है। जिसका मंत्र “ॐ आपः " से प्रारम्भ कर “भेषजम्” पर्यन्त है तथा “ॐ आपोहि” से प्रारम्भ कर “जनयथा च न पर्यन्त" इस मंत्र से स्वयं का अभिषेक करता है।[230]

---

[230] **विवाहपद्धति, पृ0 45-48**

20. ध्रुवदर्शन

प्रायः दीवा लग्न हो तो सूर्य एवं रात्रिलग्न हो तो वर -वधू को ध्रुव का दर्शन करने के लिए कहता है जिसका मंत्र “ॐ ध्रुवमसि' से प्रारम्भ कर “शरदः शतम्” पर्यन्त अर्थात् तुम ध्रुव (अटल) हो मैं तुम्हें अटल ही देखता हूँ। मैं तुम्हें ध्रुव का दर्शन कराता हूँ। तुम ध्रुवता की वृद्धि करते हुए मेरी पोष्य हो। तुम्हारी अटलता एवं पोषणीयता के लिए ही तुम्हें बृहस्पति ने मुझे प्रदान किया है तथा मुझ जैसे पति से तुम प्रजापति संतानयुक्त होकर मेरे साथ तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो।[231] मानवगृह्यसूत्र में तो वर के द्वारा वधू को ध्रुवदर्शन कराने के विषय में कहा है कि जिस प्रकार आकाश, पृथ्वी यह समस्त चराचर ध्रुव है । उसी प्रकारर स्त्री भी पति के कुल में ध्रुव रहती है।[232]नवविवाहित पत्नी का पतिगृह में सभी सम-विषम स्थितियों में ध्रुव की तरह अटल रहने का प्रोत्साहन ही ध्रुवदर्शन कृत्य का मुख्य उद्देश्य है जिससे दम्पत्ती का जीवन सुखमय बना रहे।

21. हृदयालम्भन

[231]पारस्करगृह्यसूत्र, 1.8.12
[232]मानवगृह्यसूत्र 1.14.10, आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.21.7

तत्पश्चात् वर-वधू के दाहिने कंधे पर अपना हाथ रखकर वधू के हृदय का स्पर्श करते हुए यह मंत्र बोलता है "ॐ ममव्रते" से प्रारम्भ कर "नियुनक्तु मध्यम" पर्यन्त अर्थात् मैं तुम्हारे हृदय को अपने नियम में धारण करता है। तुम्हारा चित्त मेरे चित्त का अनुगमन करे तथा मेरा चित्त तुम्हारे चित्त का अनुगमन करे । मेरी वाणी को तुम एकाग्रचित्त से सुनो। प्रजापति ने तुम्हें मेरे लिए नियुक्त किया है।[233]हृदय में विद्यमान, उत्पद्यमान सभी भावों का उद्गम केन्द्र हृदय है जिसके स्पर्श द्वारा वर कन्या को द्रविभूत करता है। जिस प्रकार द्रवीभूत (पिघले हुए) लाक्षा (लाख) अंकित मुद्रा स्थायी हो जाती है उसी प्रकार द्रविभूत हृदय में भाव स्थायी हो जाता है। वर -वधू दोनों का हृदय मन, मस्तिष्क यदि एकसमान होगा तो जीवन में सामंजस्य एवं स्नेह का वातावरण बना रहेगा तथा कभी जीवन में विषमता नहीं आएगी। इस कृत्य से वधू के हृदय, मन, चेतन्यता सबकुछ वर में केन्द्रित हो जाता है तथा वधू-वर की पूर्णरूप से अनुगामिनी बन जाती है। अत: यह माना जा सकता है कि जीवन में सफलता, भावात्मकता दोनों का समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करना ही इस कृत्य का मूल उद्देश्य है।

---

[233]**पारस्करगृह्यसूत्र, 1.8.8, मानवगृह्यसूत्र 1.10.13, आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1.21.7, वराहगृह्यसूत्र 14.25.6**

22. सिंदूरदान

सिंदूर एक मांगलिक द्रव्य है। सिंदूरदान का तात्पर्य है कि वर इस सुमंगल द्रव्य सिंदूर के द्वारा वधू को अभिमंत्रित करता है अर्थात् उसके सीमन्त (मांग) में सांध्र (घनिभूत) सिंदूर गणेश, गौरी, वरुणदेव को पांच बार समर्पित कर वधू के सीमंत में लगाता है। (लोकाचार के अनुसार वह सिंदूर मण्डप में आचार्य के पास होता है जिसे दक्षिणापूर्वक वर के पिता या अभिभावक प्राप्त कर उस सिंदूर को मिलाते हैं। मिलाने के पश्चात् उसकी एक पुड़िया वधू के गृहवर्ती कोहबर में भेजवाकर एक पुड़िया अपने गृह के कोहबर के लिए रखकर वह सिंदूर सिंधौरा के माध्यम से वर के हाथ में पहुंचता है। तब वर-वरधू की मांग में लगाता है) वर के द्वारा सिंदूर से वधू को अभिमंत्रित करने अर्थात् उसके सीमन्त में सिंदूर संलग्न करने का जो मंत्र है वह 'सुमंगली' से प्रारम्भ कर 'विपरेतन' पर्यन्त है।[234]जिसका तात्पर्य है कि वर मण्डप में उपस्थित उभय पक्ष के नर-नारियों की ओर संकेत करते हुए कहता है कि आप लोगों के समक्ष यह वधू सुमंगली सिंदूरयुक्त सौभाग्यवती बन

---

[234] ऋग्वेद, 10.85.33, अथर्ववेद, 14.2.28, पारस्करगृह्यसूत्र, 1.8.9, वराहगृह्यसूत्र, 16.1-2

गयी। इस कृत्य को आप सभी लोगों ने देख लिया तथा इसे सौभाग्य की प्राप्ति हुयी। आप लोग इसे अपनी ओर से भी सौभाग्यशालिनी बनी रहने का आशीर्वाद देकर जहां से आये हैं वहां जायें। यह मंत्र विवाह संस्कार का अंतिम मंत्र समाजशास्त्र या सामाजिक विज्ञान का चरम एवं परम निदर्शन है। यह विवाह संस्कार की वैदिक एवं शास्त्रीय महत्ता के साथ-साथ सामाजिक मान्यता का भी प्रतीक है।

तत्पश्चात् वधू-वर के वामभाग में आ जाती है क्योंकि सिंदूरदान, द्विरागमन तथा शैय्या पर वधू वामभाग में होती है। शांतिकर्म, प्रतिष्ठा, उद्यापन तथा देवपूजन आदि कार्यों में दाहिने होती हैं। कुछ लोग इसमें भी वामभाग में बैठने की बात करते हैं कि कुलाचार के अनुसार परिवार के वृद्धों का जैसा कहना हो वैसा करें। वर के द्वारा सुमंगली सम्पन्न हो जाने पर वधू परिवार की चार सौभाग्यवती स्त्रियों के द्वारा पुनः वधू के सीमन्त में पांच बार सिंदूर लगाया जाता है।[235] शिष्टाचार एवं लोकव्यवहार के अनुसार वधू की भ्रातिजाया (भाभी) या पितृश्वसा (बुआ) वर के पश्चात् प्रथम सिंदूर लगाती है जिन्हें वरपक्ष के द्वारा यथाशक्ति वस्त्रालंकार से सम्मानित भी किया जाता है। तत्पश्चात् अन्य सौभाग्यवती

---

[235] **विवाहपद्धति, पृ0 49**

स्त्रियों द्वारा सिंदूर लगाया जाता है। तत्पश्चात् कन्या एवं वर का परस्पर ग्रंथिबंधन सम्पन्न होता है।

इसके पश्चात् शास्त्रीय परम्परा के अनुसार वर-कन्या को गुप्तागार में लाल वृषभ के लोमयुक्त धर्म पर बैठना चाहिए। किन्तु यह परम्परा आज नहीं है पहले कभी होती रही होगी, क्योंकि मृत वृषभ का चर्म अशुद्ध होता है उसका उपयोग उचित भी नहीं है। वर के गुप्तागार में प्रवेश करते समय लोकाचार के अनुसार परिवार की नवयुवतियाँ वर को कक्ष में प्रवेश करने से बाधित करती हैं। हास-परिहास एवं आमोद-प्रमोद की बातें करती हुई वर के मन-मस्तिष्क का अनुशीलन करने के तात्पर्य से भी कुछ प्रश्न गद्य-पद्य पूछती हैं। प्रबुद्ध वर उन्हें कुछ गद्य-पद्य सुनाने के लिए पूर्व से तत्पर भी रहते हैं। यह सब प्रक्रिया होने के बाद वे गुप्ताचार में प्रविष्ट होने की अनुमति देती है। गुप्तागार के पहुँचने पर भी कुछ लोकाचार शिष्टाचार की बातें महिलाएं करती हैं। तत्पश्चात् वर-वधू गुप्तागार से मण्डप में आकर "स्विष्टकृत होम" करते हैं। होम के पश्चात् ब्राह्मण दक्षिणा, पूर्णपात्रदान कर 'ॐ आपः" से प्रारम्भकर "भेषजं" पर्यन्त मंत्र का उच्चारण कर मार्जन (अपने ऊपर जल छिड़कना) करते हैं। मार्जन के पश्चात् ब्राह्मण श्रवा से हवनकुण्ड की अग्नि निकालकर "ॐ

त्र्यायुशं से त्र्यायुषं" पर्यन्त मंत्र के द्वारा वर के मस्तक पर भस्म का तिलक लगाने के पश्चात् कर्म के पूर्णाहुति का अवसर बनता है, किन्तु विवाहादि संस्कार, नित्यपूजन, वास्तुपूजन, नित्यहोम, वृसोत्सर्ग जैसी क्रियाओं में पुर्णाहुति नहीं होनी चाहिए। ऐसा पारस्करगृह्यसूत्र, प्रयोगरत्न एवं मत्स्यपुराण के वचनों से प्रमाणित है।

ततः वर-कन्या का अभिषेक, तिलक उभय पक्ष के द्वारा दोनों के ऊपर लाजा प्रक्षेपपूर्वक आशीर्वाद के पश्चात् वर-वधू के द्वारा मण्डप में गणेश-स्मरण, देशकाल संकीर्तपूर्वक निर्विघ्न द्विरागमन हेतु गणेशादि आवाहित देवताओं की पूजा सम्पन्न कर कृत्य सम्पादक आचार्यादि ब्राह्मणों की दक्षिणा " भूयसी दक्षिणा' प्रदान कर " ॐ प्रमादात " से प्रारम्भ कर "ॐ विष्णवे नमः" पर्यनत मंत्र का तीन बार उच्चारण कर विवाह संस्कार सम्पन्न होता है।[236]

23. चतुर्थीकर्म

इस चतुर्थीकर्म को त्रिरात व्रत भी कहा जाता है। यह व्रत वर-वधू के दाम्पत्य सम्बन्ध को शारीरिक सम्बन्ध से ऊपर उठकर उनमें संयम, संतोष एवं परस्पर प्रेम की भाना का उद्रेक (तरंगों का उठना)

---

[236] विवाहपद्धति, पृ0 49-52

करना है।[237] चतुर्थीकर्म के स्थलीपाक होम में प्रयुक्त पांच मंत्रों के देवता, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र एवं गंधर्व को दी जाने वाली पांचों आहुतियों से अग्नि के द्वारा पतिनाशक वायु के द्वारा संततिनाशक, सूर्य के द्वारा पशुनाशिनी, चंद्र के द्वारा गृहनाशिनी तथा गंधर्व के द्वारा यश-नाशिनी स्थितियों अर्थात् ऐसे शारीरिक कुलक्षणों का सर्वथा विनाश कर जारघ्नी शक्ति का उत्पादन करने के लिए पूर्वोक्त देवताओं से क्रमश: प्रार्थना की गई है। तत्पश्चात् "ऊँ याते" से प्रारम्भ कर " मयासः" पर्यन्त जो वधू के अभिषेक का मंत्र है उसका भी तात्पर्य यही है।[238]

इस प्रकार चतुर्थीकर्म वधू के शरीर में विद्यमान अमांगलिक कुलक्षणों तथा दुष्चरित्रता निवारण की कारणभूत जार का विनष्ट करने, दाम्पत्य जीवन को अत्यधिक विश्वस्त, विमल एवं सुखमय बनाने वाला संस्कार है। यह कर्म पत्नी की पति में अनुरक्ति, भक्ति की शक्ति देता है तो पति की पत्नी में अनुरक्ति एवं उसके सम्मान की वृद्धि करता है। दोनों के ही चित्त में सच्चरित्रता का संचार करता है।

विवाह की रात्रि से तीन रात्रिपर्यन्त वर एवं वधू

---

[237]**कामसूत्र, 3.2.1-4**
[238]**पारस्करगृह्यसूत्र, 1.11.14**

को शारीरिक सम्बन्ध की दृष्टि से संयम बरतने के पश्चात् चौथी रात्रि में गृह के अंदर की चतुर्थीकर्म करना चाहिए। इस कर्म में दोनों को तैल एवं उद्वर्तन (उबटन) आदि का प्रयोग कर अलग-अलग पीढ़े पर पूर्वाभिमुख बैठकर स्नान करना चाहिए। स्नान के पश्चात् वधू वर को पवित्र आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर आचमन प्राणायाम कर पवित्रीकरण मंत्र से स्वयं एवं पूजा सामग्री को प्रोक्षित कर हाथ में अक्षत, पुष्प आदि ग्रहण कर स्वस्तिवाचन एवं मांगलिक मंत्रों का पाठ करना चाहिए। ततः वर देशकाल संकीर्तन कर अपने गोत्र के साथ नाम (शर्मा, वर्मा आदि) लगाकर सपत्नीक मैं विवाह के चौथे दिन रात्रि के पिछले प्रहर में चतुर्थीकर्म के लिए अग्निस्थापन करता हूँ। विधिवत वेदर्माण कर अग्निस्थापन कर ब्रह्मा का वरण कर स्थालीपाक (बटुली जैसा पात्र) में चरु (हवनीय द्रव्य, खीर, हलवा आदि) पकाकर "ऊँ अग्नये " से प्रारम्भ कर "ॐ प्रजापते स्वाहा" पर्यन्त नौ मंत्रों के द्वारा स्थालीपाक (पकाये हुए चरु) से हवन तथा मार्जन कर ब्रह्मा को पूर्णपात्र का दान कर ब्रह्मा से "ॐ स्वस्ति" सुनकर जलपात्र के जल से आम्रपल्लव के द्वारा वर "ॐ याते" से लेकर "मयाशः" पर्यन्त मंत्र बोलकर वधू के सिर पर जल छोड़ता है। मंत्र का

तात्पर्य है कि जो तुम्हारी शरीर में पति, प्रजा, पशु, गृह, परिवार के यश को हानि पहुँचाने वाली निंदित शक्तियाँ हैं। वे जारघ्नी (दुष्चरित्र एवं पुरुष की क्षति करने वाली) विनष्ट हो जाए तथा तुम मेरे साथ वृद्धावस्था तक जीवित रहो।[239]तत्पश्चात् "ॐ प्राणैस्वे" से प्रारम्भ कर " सन्दधामि " पर्यन्त इन चार मंत्रों से वधू को स्थालीपाक के अवशिष्ट चरु को खिलाता है तथा स्वयं भी खाता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में "समशन" कहा जाता है।[240] इस मंत्र का तात्पर्य है कि मैं अपने प्राण, अस्थि, मांस तथा त्वचा से तुम्हारे प्राण, अस्थि, मांस तथा त्वचा को मिलाता हूँ। इन मंत्रों के पश्चात् 'ॐ यत्ते" से प्रारम्भ कर '"शरदः शतम्" पर्यन्त मंत्र का उच्चारण करते हुए वर-वधू के हृदय का स्पर्श करता है। इस मंत्र का तात्पर्य है कि जो तुम्हारा सरल हृदय दिन में चंद्रमा में स्थित रहता है उसे मैंने जान लिया है। उस हृदय को तुम मुझे प्रदान कर दो। इस तरह हम दोनों सौ वर्षों तक जीवित रहे तथा सौ वर्षों तक हमारी वाणी क्रियाशील रहे, सौ वर्षों तक हम लोगों में सुनने की शक्ति सक्रिय रहे। कुलाचार के अनुसार विवाह के पूर्व से बंधे दोनों के कंकण खोला जाता है। इस

---

[239]**पारस्करगृह्यसूत्र, 1.11.14**
[240]**काठकगृह्यसूत्र, 29.1**

अवसर पर आचार-शिष्टाचार के अनुसार परिवार की महिलाएं आमोद-प्रमोद तथा हास-परिहास करती है तथा परमानंद तथा हर्षोल्लास का अनुभव करती है। इस प्रकार चतुर्थीकर्म समाप्त होता है।[241]

अन्त्येष्टि संस्कार

अन्त्येष्टि शब्द का तात्पर्य 'अन्त्य' अर्थात् अंतिम तथा इष्टि अर्थात् यज्ञ या संस्कार । इस प्रकार जीवन के अंत में सम्पन्न होने वाला संस्कार ही अन्त्येष्टि है। भारतीय वैदिक वांगमय में इस प्रकार उल्लेख प्राप्त होते है जिनसे सदा-सर्वदा-सर्वथा असन्मार्ग से सन्मार्ग पर चलने, अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर होने तथा मृत्यु से अमरत्व की प्राप्ति करने के बहुश: उपदेश प्राप्त होते हैं तथा इन वाक्यों पर सतत् साधना सम्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा से संयुक्त भारतीय ऋषियों-महर्षियों एवं मनीषियों के द्वारा विशिष्ट रूप से चिंतन- मनन-अध्ययन एवं अन्वेषण किये गये, जो कि सुविज्ञ समुदाय को सुविदित है । नवमानव वैज्ञानिक एवं चिकित्सा विज्ञानियों के द्वारा ही वृद्धावस्था का अवरोध कर सुदीर्घजीवि बने रहने

---

[241] **विवाहपद्धति, पृ0 52-55**

के लिए बहुश: प्रयास किये जा रहे हैं, किन्तु मृत्यु (जीवन की परिसमाप्ति) पर किसी क प्रयास सफल नहीं हुआ न ही किसी को अरमत्व की प्राप्त हो सकी, क्योंकि प्राणी मरण धर्मा है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।

अर्थात् गीता में योगीराज श्रीकृष्ण अर्जुन की युद्ध में स्वजनों के मारे जाने की चिंता की स्थिति में यह उपदेश देते है कि जो जन्म ग्रहण कर बाल्य, युवा, जरा अथवा अकाल मृत्यु आदि स्थितियों का अतिक्रमण करता हुआ यदि मनुष्य होकर अपनी मुक्ति का प्रयास नहीं किया है तो उसे पुन: पूर्वकर्मानुसार प्राप्त योनि में जन्म लेना ही है। ऐसी अपरिहार्य स्थिति में तुम्हें व्यर्थ की चिंता नहीं करनी चाहिए।[242]

अहन्यहनि भूतानि गच्छति यममन्दिरम्।
शेषा: जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

अर्थात् प्रतिदिन अगणित प्राणियों के जीवन परिसमाप्ति होती है। तथापि जीवित प्राणी यही सोचते हैं कि हम सदा-सर्वदा के लिए जीवित हैं, इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है।[243] जीवन

[242]श्रीमद्भगवतगीता, 2.27
[243]महाभारत, वनपर्व, 313.116

का पर्यवसान (परिसमाप्ति या अंत) मृत्यु ही है। जब तक मृत्यु नहीं तब तक जीवन रहता है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्तामरणान्तं च जीवितम् ॥

अर्थात् सभी सांसारिक विषय क्षयान्त हैं अर्थात् एक दिन उसका अंत होना है। ऊँचाई अथवा उन्नति पतनान्त है, उसका पतन निश्चित है। संयोग- वियोग के लिए होता है तथा वियोग-संयोग के लिए है। जीवन का अंत मृत्यु है तथा मृत्यु ही पुनः जीवन का कारण है।[244] स्वकर्मानुसार जीवन की मुक्ति का प्रयास जीवनकाल में नहीं हुआ तो कर्मानुसार योनि में जन्म होना ही है। इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो मृत्यु को प्राप्त होता है।[245]गर्भस्थ जीव, उत्पन्न हुआ शिशु, बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, स्त्री, पुरुष आदि सभी को संसार का त्याग करना पड़ता है।[246]इस पंचभौतिक शरीर से प्राण के निकलते ही प्राणी का शरीर निष्क्रिय, चेष्टाहीन एवं निष्प्राण हो जाता है। इसी स्थिति का नाम मृत्यु है। मृत्यु प्राणिमात्र के लिए

[244]रामायण, 2.105.16
[245]पद्मपुराण, 2.68.5
[246]पद्मपुराण, 2.68.3

सर्वाधिक भय, पीड़ा एवं शोक का हेतु है।[247] समस्त जगत के कष्टों में सबसे बड़ा कष्ट मृत्यु है जिसकी कोई तुलना नहीं है।[248] मनुष्य के जीवन में बहुत से मृत्यु तुल्य कष्ट होते हैं जिनकी तुलना अल्पमृत्यु से की जा सकती है। पौराणिक वांगमय में 101 प्रकार की मृत्युओं का उल्लेख है जिसमें 100 प्रकार की मृत्यु अल्पमृत्य या आगन्तुक है जिनका निरोध औषधि, जप-होम-दान-पुण्यकर्मो से हो जाता है किन्तु जो कालमृत्यु है वह एकोत्तर शत् (101वाँ) मृत्यु है जिसका कोई प्रतिकार नहीं। कोई ऐसा प्रकार नहीं जिससे इसको निरूद्ध किया जा सके।[249] 'कालमृत्यु से ग्रस्त व्यक्ति की रक्षा करने में औषधि, तप, दान, माता-पिता, संतान एवं बंधु-बांधव आदि कोई भी शुभचिंतक समर्थ नहीं हो सकता।[250]कालमृत्यु से ग्रस्त प्राणी के लिए साक्षात् धन्वन्तरि भी चिकित्सा में सफल नहीं हो सकते।[251]इस पांचभौतिक जगत में जन्म ग्रहण करने के पूर्व माता के गर्भ में ही मनुष्य की आयु, कर्म, धन, विद्या तथा मृत्यु का समय निश्चित हो जाता

---

[247]स्कंदपुराण, 1.2.42.106
[248]पद्मपुराण, 2.66.131
[249]पद्मपुराण, 2.66.122-23, स्कंदपुराण, 1.2.42.100-102, अष्टांगसंग्रह,
[250]पद्मपुराण, 2.66.127,सूत्रस्थान 9.113-14
[251]स्कंदपुराण, 1.2.42.103-04, पद्मपुराण, 2.66.126

है।[252]

यद्यपि बौद्ध दर्शन के कथनानुसार आयुक्षय, कर्मक्षय, आयु एवं कर्म दोनों के क्षय होने तथा आयुष्यनाशक कर्मों से भी मृत्यु प्राप्त होती है, ऐसा कहा गया है।[253] परन्तु पौराणिक वाङ्मय में कर्मक्षय के पश्चात् ही मृत्यु का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा-दीपक का तैल समाप्त हो जाने पर उसकी वर्तिका (बत्ती) बुझ जाती है। उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्मों का भोग पूर्ण होते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है।[254]भारतीय तत्वज्ञों की यह दृढ़ धारणा रही है कि विवाह, जन्म तथा मृत्यु ये पूर्णतः सुनिश्चित रहते हैं जब जहां जैसे जिससे होना है तब वहां वैसे उसी के साथ होते हैं, यह अकाट्य सत्य है। यह कालकृत बंधन है जिसे कोई बदल नहीं सकता।[255] काल कहते ही उसे है जो सबको पकड़े हुए है, काल का न कोई प्रियपात्र होता है तथा न ही कोई विद्वेष का पात्र। जिसका जीवन पूर्ण तथा पूर्वसंचित कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है। काल उसे तत्काल हठात् उठा ले जाता है।[256] वृद्धत्व एवं मृत्यु ये दोनों ही भेड़िया के समान

---

[252]**स्कंदपुराण, 6.61.16, पद्मपुराण, 2.81.47**
[253]**अष्टांगसंग्रह, सूत्रस्थान 9.116**
[254]**पद्मपुराण, 2.81.64-65, स्कंदपुराण 6.61.27**
[255]**पद्मपुराण, 2.81.40**
[256]**विष्णुस्मृति 20.43**

हैं जोकि शक्तिशाली, दुर्बल, छोटे एवं बड़े किसी का विचार किये बिना सभी को अपना ग्रास बनाते हैं।[257] कोई मनुष्य दुर्बल या प्रबल, शूरवीर या पामर (मुर्ख) अथवा उच्चतम वैदुष्य सम्पन्न विद्वान ही क्यों न हो उसकी इच्छानुसार उसके मनोरथ पूर्ण हों या अपूर्ण, सभी को मृत्यु उठा लेती है।[258] `मृत्यु अनायास बहुत कम होती है, सभी मृत्यु कारण से प्रभावित होती है । विविध प्रकार के रोग, सर्पादि विषधर प्राणी के विष एवं आभिचारिक (तांत्रिक क्रिया आदि कारणों) से मृत्यु होती है।[259] जल में डुबने, अग्नि से जलने, विषपान, शास्त्रादि के आघात, क्षुधारोग तथा पर्वतादि उच्चस्थानों से पतन होने आदि कारणों में कोई भी मृत्यु का कारण बन सकता है।[260]सिद्ध साधक महापुरुषों योगियों की मृत्यु स्वेच्छानुसार होती है।[261]तथा सामान्य कोटि के मनुष्यों की मृत्यु विषपान, उद्वंधन (फांसी लगाना), अग्निदाह अथवा दस्यु (लूटेरा) हिसंक पशु सिंहादि तथा श्रृंग (सींग) वाले पशु आदि के द्वारा भी होती है।[262] आयु एवं कर्मभोग समाप्त होने पर जब

---

[257]महाभारत, शांतिपर्व, 319.12
[258]महाभारत, शांतिपर्व, 227.21-22
[259]पद्मपुराण, 2.66.155
[260]ब्रह्मपुराण, 214.28.9
[261]महाभारत, शांतिपर्व, 227.26
[262]महाभारत, शांतिपर्व, 227.25

मृत्युकाल सन्निकट होता है तो जीवात्मा को यमदूत शरीर से बाहर निकालते हैं।[263]

मुमुर्षु के शरीर से प्राण (जीवात्मा) कैसे निकलता है इस विषय में कहा गया है कि शरीर में तीव्र वायु के द्वारा उदीप्त जठराग्नि (खाये अन्न को पचाने वाली अग्नि) की ऊष्मा बढ़ जाती है तथा शरीर के मर्मस्थलों का छेदन-भेद कर देती है, जैसे बिना ईंधन के आग जल जाती है। उस समय खाये हुए अन्न एवं जल के अधोमार्ग से निकलना अवरूद्ध कर उदान नाम का वायु ऊपर को उठने लगता है।[264] वहीं यह भी बताया गया है कि प्राण निकते समय भयंकर आकृति वाले हाथ में गदा लिए हुए दुर्गंध फैलाते हुए यमदूत निकट पहुँच जाते हैं, जिन्हें देखकर प्राणी कम्पित हो जाता है तथा अपने बंधु-बांधव, माता-पिता, पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्धियों को बुलाने लगता है किन्तु उसके कण्ठ से स्पष्ट स्वर भी निकल नहीं पाते। उस समय अतिशय त्रास के कारण उसके नेत्र घूमने लगते हैं तथा उसके मुख से कफ निकलने लगता है। उस समय वह प्राणी अत्यधिक पीड़ा का अनुभव करता है तथा उसके शरीर से जीवात्मा बाहर निकल पड़ता है।[265] किन्तु

[263] **स्कंदपुराण, 1.2.50.59**
[264] **ब्रह्मपुराण, 214.32-36**
[265] **ब्रह्मपुराण, 214.42-43**

मृत्युकाल में ऐसा अनुभव उन्हीं को होता है जो अधर्मी, दुराचारी, पापात्मा, क्रूर तथा अहंकारी प्रकृति के होते हैं। जो धार्मिक, सदाचारी, सात्विक गुणों से युक्त होता तथा भगवद्भक्ति में निरत होते हैं, उन्हें यमूदतों का भय नहीं होता। उसकी मृत्यु सुखपूर्व होती है। जो सदाचारी, काम, क्रोध, मोह ईर्ष्या, द्वेष से ग्रस्त रहने पर भी धर्म का त्याग नहीं करते वेदशास्त्रों में बताये आचरण का पालन करते, सौम्य प्रभाव के होते, प्राणी सुखपूर्वक निकलते हैं।[266] जिसने कभी असत्य भाषण नहीं किया, आस्तिकता (धार्मिकता) एवं वेदवचनों के पालन का त्याग नहीं किया उनके भी प्राण सुखपूर्वक निकलते हैं।[267] जिसने पिपासा (प्यासा) कुल को जल तथा भुभुक्षित (भूखे) को अन्न प्रदान किया। ऐसे लोगों के प्राण भी सुख हैं। जो देव, ब्राह्मण के सत्कार में आस्था रखते हैं, किसी के साथ ईर्ष्याद्वेष नहीं करते, आंतरिक एवं बाह्य रूप से शुद्ध रहते हैं, वे भी मृत्यु को सुखपूर्वक प्राप्त करते हैं।[268] जो उपरोक्त के विरूद्ध आचरण करते हैं उन्हें मृत्यु के समय, मृत्यु के पश्चात् परलोक में भी यातनाएं भोगनी पड़ती हैं।

---

[266] ब्रह्मपुराण, 214.38
[267] ब्रह्मपुराण, 214.36
[268] ब्रह्मपुराण, 214.37

यह उल्लेखनीय हो गया कि मृत्यु के समय प्राण कहां से निकलते हैं। पुण्यात्माओं के प्राण कहां से निकलते हैं, इस सम्बन्ध में महाभारत में कहा है कि उच्चकोटि के पुण्यात्माओं के प्राण उनके शिरोभाग में स्थित ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर निकलते हैं। मध्यम कोटि के पुण्यात्माओं के प्राण शरीर के ऊपरी सप्तछिद्रों में किसी एक छिद्र (आंख, कान, नाक तथा मुख) से निकलते हैं तथा पापात्माओं के प्राण उनके शरीर के अधोमार्ग (मल-मूत्र द्वार) से निकलते है।[269] इस बात की पुष्टि स्कंदपुराण में भी किया है।[270] अग्निपुराण में इन बातों की सम्पुष्टि करते हुए ऊपर के सात छिद्रों के साथ ब्रह्मरन्ध्र को एक छिद्र मानते हुए आठ छिद्रों का उल्लेख है।[271] 'गरुड़ पुराण धर्मकाण्ड (प्रेतखण्ड) में कहा गया है शरीर के उपर्युक्त नौ छिद्रों तथा रोमकूपों में प्राण किसी भी एक से निकल सकता है तथा पात्माओं के प्राण तो अधोमार्ग से ही निकलते हैं।[272]प्राण निकलने पर जीवात्मा इतना सूक्ष्म होता है कि उसे कोई अपनी आंखों से देख नहीं सकता। जीवात्मा की अदृश्यता एवं सूक्ष्मता बाल के नोक का 100 भाग कर

---

[269]महाभारत, शांतिपर्व, 297.27
[270]स्कंदपुराण, 1.2.50-61
[271]अग्निपुराण, 37.3-5
[272]गरुड़पुराण धर्मकाण्ड (प्रेतखण्ड) 31.26-27

1/100 का पुन: 1000 भाग कर 1/1000 का 100 भाग करने पर एक भाग जितना सूक्ष्म होगा उतना सूक्ष्म जीवात्मा का रूप है।[273] जीवात्मा जब शरीर से निर्गत होता है तब भी उसका जो सूक्ष्म स्वरूप होता है वह पंचतन्मात्राओं, मन, बुद्धि एवं अहंकार तथा अपने पाप-पुण्य कर्मों के बंधन से मुक्त नहीं रहता।[274] शरीर से जीवात्मा निकलकर प्राण वायु के साथ अग्रसर होता है तथा अपने कर्मों के भोग के लिए एक सूक्ष्म शरीर धारण करता है जोकि माता-पिता के शुक्र शोणित से उत्पन्न होने वाले शरीर से भिन्न रहता है।[275] भगवान मनु के अनुसार पंचभूतों से उत्पन्न शरीर से निर्गत जीवात्मा जो शरीर धारण करता है वह पंचमहाभूतों के अतिसूक्ष्म तत्व जिसे तन्मात्रा कहते हैं, उससे निर्मित होता है तथा इस शरीर से वह अपने कर्मों के अनुसार यममार्ग की यातनाओं का भोग करता है।[276] यह यममार्ग यातना भोगार्थ प्राप्त सूक्ष्म शरीर संकल्प, विकल्प तथा अहंकार से युक्त प्रकाशस्वरूप तथा अंगुष्ठ परिमित आकार का होता है।[277] स्कंदपुराण में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है कि शरीर से

---

[273] श्वेताश्वरोपनिषद्, 5.9
[274] स्कंदपुराण, 1.2.50.60
[275] ब्रह्मपुराण, 214.46
[276] मनुस्मृति, 12.16-17
[277] श्वेताश्वरोपनिषद्, 5.8

निर्गत होते ही जीवात्मा अंगुष्ठ मात्र परिमित शरीर ग्रहण कर लेता है जिस शरीर का उपादान कारण उसके प्राण ही होते हैं। इस शरीर को आतिवाहिक शरीर से जीवात्मा अपने द्वारा किये गये धर्माधर्म पुण्यापुण्य के परिणामस्वरूप यममार्ग में सुखदुखादि का भोग करता है।[278] जीवात्मा के इसी सूक्ष्म शरीर के द्वारा स्वकर्मानुसार यममार्ग की यातनाओं का भोग करने के लिए यमदूत यमराज की सभा में ले जाते हैं।[279] इसी सूक्ष्म शरीर से पापात्मा पुरुष यममार्ग की यातनाओं का भोग करते हुए बड़े कष्ट के साथ यमराज के पास पहुँचता है जबकि पुण्यात्मा अपने धार्मिक प्रभाव से सहर्ष यममार्ग में सुख भोग करते हुए धर्मराज के पास पहुँचता है।[280]

यह विशेषेण उल्लेख्य, ध्यातव्य एवं ज्ञातव्य है कि मात्र मनुष्य ही मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म अतिन्द्रिय एवं अतिवाहिक शरीर धारण करता है। उसी के इस शरीर स्वपाप पुण्यकर्मानुसार पाप के प्रभाव से नाना प्रकार के दु:ख एवं पुण्य के प्रभाव से सुखपूर्वक प्रसन्नता के साथ यमदूतों के द्वारा यममार्ग से यमराज के समक्ष ले जाया जाता है, मनुष्येतर प्राणियों के शरीर को नहीं, क्योंकि मनुष्येतर प्राणियों

---

[278] **पद्मपुराण, 5.100.23**
[279] **ब्रह्मपुराण, 214.70**
[280] **ब्रह्मपुराण, 214.31**

की मृत्यु के पश्चात् तत्काल कर्मानुसार अन्य योनि में जन्म हो जाता है।[281] सामान्य मनुष्य क्या महान तपस्वी एवं योगी भी सरलता से न देख सकता न जान सकता कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा कहा जाता है तथा उसके कर्मानुसार उसकी क्या गति होती है एवं वह किस योनि में उत्पन्न होता है।[282] महायोगी परमदिव्यात्मा अपनी दिव्य दृष्टि से देख सकते हैं।[283] सनक सनन्दन-• सनातन - सनत्कुमारों को भी मृतात्माओं के परलोकगमन का ज्ञान था, उन्हें भी अपनी दिव्यदृष्टि से गतागति (परलोक आवागमन) तथा प्रेतों के श्राद्ध की प्राप्ति का ज्ञान था।[284] मृत्यु के पश्चात् कर्मानुसार दूसरा जन्म अवश्य होता है, इस बात को अनेक वैज्ञानिक शोधों से आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान भी मानने लगे हैं। हमारे प्राचीन भारतीय मनीषी तो वेदशास्त्र एवं पुराणों के ज्ञाता तथा उनमें आस्थावान होने से सर्वदा से पुनर्जन्म स्वीकार करते आये हैं। मरणान्तर पापात्मा प्राणियों के जीवात्मा को यमदूत भयंकर कष्टदायक मार्ग से ले जाते हुए यमराज की सभा में उपस्थित कर देते हैं जिस सभा में महर्षि मनु,

---

[281] विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 2.113.2-3

[282] ब्रह्माण्डपुराण, 2.28.68-69, वायुपुराण 56.60, मत्स्यपुराण 141.58

[283] अग्निपुराण, 371.10

[284] ब्रह्माण्डपुराण, 2.28.92, वायुपुराण (पूर्वार्द्ध) 56.83, मत्स्यपुराण 141.76-77

प्रजापति, पराशर, अत्रि, औद्दालक, आपस्तम्ब, बृहस्पति, इन्द्र, गौतम, शंखलिखित, अंगिरा, भृगु, पुलस्त्य, पूल आदि स्वर्गगामी धर्मशास्त्रमर्मज्ञ मुनिगण यमराज के साथ मिलकर पापात्माओं के पापकर्मानुसार दण्ड का निर्धारण करते हैं।[285] यमराज की सभा में मुनिगण के साथ मृत्यु प्राप्त किये हुए अनेक धार्मिक एवं आस्तिक राजा यथा- कुशीनर, सुधर्मा, वृषपर्वा, जयद्रथ, रजि, सहस्रजित, कुक्षि, दृढ़धर्मा, युवनाश्व, दन्तवक्र, नाभाग, ऋपुमंगल, करन्धम, धर्मसेन, परमर्द, परान्तक आदि नरेन्द्र भी धर्माधर्म पुण्यापुण्य विषयक विमर्श में यमराज का सहयोग करते हैं।[286] उस समय यमराज की सभा के सभासदों में सदाचारी, सद्विचारी, सद्धर्मा, सत्कर्मा, प्रजा का पुत्रवत् परिपालन करने वाले परम न्यायप्रिय दिवंगत नरेन्द्रों के अतिरिक्त सधर्म का भली-भांति परिपालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य भी में रहते हैं।[287] इन सभी की उपस्थिति में पापकर्मियों के कर्मानुरूप यातना सुनिश्चित की जाती है। मात्र यमराज ही उनके कर्मानुसार स्वर्ग नरकादि एवं दण्डादि का निश्चय नहीं करते अपितु इन सभी की उपस्थिति में निश्चय किया जाता है। ततः उन्हें

---

[285] **वराहपुराण, 195.11-17**
[286] **स्कंदपुराण, 4.8.91-94**
[287] **स्कंदपुराण, 4.8.91-94**

उन्हीं यमदूतों के साथ तत्क्षण (तत्काल) भूलोक में वापस कर दिया जाता है जहां अन्त्येष्टिकर्ताओं के द्वारा किये गये दशाहपर्यन्त के पिण्डदान से उनके सूक्ष्म शरीर के दशगात्र (दस अंग- प्रत्यंग) निर्मित होते हैं। गुरुड़पुराण धर्मकाण्ड (प्रेतखण्ड) में कहा है कि प्रथम दिन के पिण्ड से प्रेतात्मा की भोगदेह का सिर, दूसरे दिन के पिण्ड से ग्रीवा (गर्दन) तथा स्कंध (कंधा), तीसरे दिन के पिण्ड से हृदय, चौथे दिन के पिण्ड से पीठ, पांचवें दिन के पिण्ड से नाभि, छठें दिन के पिण्ड से कटि (कमर), सातवें दिन के पिण्ड से गुप्तांग, आठवें दिन के पिण्ड से ऊरू (जंघा), नौवें दिन के पिण्ड से पैर तथा तलवा, दसवें दिन के पिण्ड से उसमें क्षुधा (भूख) उत्पन्न होती है। ग्यारहवें एवं बारहवें दिन के पिण्ड प्रेत के आहार बनते हैं तथा बारहवें दिन ही सपिण्डन हो जाता है। तेरहवें दिन यमदूत उन्हें यमलोक की महायात्रा के लिए ले जाते हैं।[288] यह स्मरणीय विषय है कि मृत्यु के अनन्तर मात्र मनुष्यों को ही सपिण्डनपर्यन्त प्रेतरूप में रहना पड़ता है तथा उन्हीं को यमदूतों के साथ यमलोक जाना पड़ता है। अन्य प्राणी तो मृत्यु के बाद न प्रेत होते हैं न उन्हें यमलोक जाना पड़ता है। अन्य सभी योनियों के प्राणी मृत्यु के पश्चात्

[288]गरुड़पुराण, धर्मकाण्ड (प्रेतखण्ड), 9.69.76

पुनः किसी न किसी योनि में स्वकर्मानुसार जन्म पा जाते हैं। मृत्यु के पश्चात् प्रेत भी मनुष्य बनता है। अन्य योनि के प्राणी नहीं।[289] अन्य योनि के प्राणी मृत्यु के पश्चात् वायु रूप में विचरण करते हुए कर्मानुसार किसी योनि विशेष के गर्भ में समाविष्ट हो जाते हैं।[290]

पुण्यात्माओं का यमलोक जाना अनिवार्य नहीं उन्हें भगवान् विष्णु के पार्षद स्वयं आकर साथ ले जाते हैं तथा मार्ग में धर्मराज की सभा में सम्मिलित होते हुए धर्मराज से सम्मानित होकर स्वर्ग तथा बैकुण्ठ लोक प्राप्त करते हैं। किसको किसको यमलोक की प्राप्ति नहीं होती इसका प्रसंग भी अनेकत्र आया है। जो मनुष्य धर्माधर्म विषयक शास्त्रीय आदेशों का पालन करते हैं वे यमलोक नहीं जाते। जो मनुष्य मनसा-वाचा- कर्मणा किसी को भी पीड़ित नहीं करता वह यमलोक नहीं जाता।[291] जो मनुष्य इष्टधर्म (देवोपासना, यज्ञ, अतिथिसत्कार) तथा पूर्तधर्म (कूप, तालाब, धर्मशाला, देवालय, विद्यालय का निर्माण, वृक्षोरोपण आदि) का आचरण करते हैं, स्वभावतः दयालु हो, वे यमलोक नहीं जाते हैं।[292]

---

[289]स्कंदपुराण, 1.2.50.72-73
[290]विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 2.113.8-9
[291]पद्मपुराण, 3.31.25
[292]पद्मपुराण, 3.31.42

याज्ञवल्क्य के अनुसार आत्मज्ञानी, शुद्ध आचरण वाले, मन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले जितेन्द्रिय तपस्वी, मर्मज्ञ, वेदज्ञ एवं साहित्यिक प्रवृत्ति के व्यक्ति देवयोनि को प्राप्त करते हैं।[293] ऐसे उपर्युक्त पवित्रात्माओं को अपने सत्कर्मानुसार दिव्यलोक प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त पापात्मा, अधार्मिक, दुष्चरित्र, निर्दय, क्रुर तथा दुष्ट लोग अपने कर्मों के परिणामस्वरूप यममार्ग में तो महाभयंकर कष्ट भोगते ही हैं इसके बाद नरक में भी यातना भोगकर अनेक निंदित योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। जैसे- सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि धातुओं को धवनी (गर्म करने वाली भट्टी) में तब तक गरम किया जाता है जब तक उसके मल पिघलकर बाहर नहीं हो जाते। इसी प्रकार पापियों को नाना प्रकार के नरकों की यातना रूपी संताप तब तक दिये जाते हैं जब तक कि नरकों की तीव्र यातना से उनके दुष्कर्म जन्य दुष्प्रभाव नष्ट नहीं हो जाते।[294] इस प्रकार नरकीय यातनाओं का जो भयंकर स्वरूप पौराणिक वांगमय में बताया गया है उसका श्रवण करने मात्र से सामान्य मनुष्य पाप प्रवृत्ति से नियंत्रित हो सकते हैं। घनघोर पुण्यात्मा एवं पापात्मा

---

[293]**याज्ञवल्क्यस्मृति, 3.137**
[294] **नारदपुराण, 32.38**

मृत्यु के पश्चात् अपने कर्मों का फल भोगकर पुन: जब जन्म ग्रहण करते हैं तो पूर्वजन्म के घनीभूत आचरणों का प्रभाव अगले जन्म में भी कुछ न कुछ उनके आचरण में रहता ही है। इस प्रकार मृतात्मा के कर्मानुसार स्वर्गनरकादि भोग भोगने की बाध्यता उन्हीं को है जो सत्कर्म से विवर्जित होते हैं। जिन मरे हुए मनुष्यों की अन्त्येष्टि उनके सपिण्डिकरण श्राद्धपर्यन्त सम्पन्न नहीं होता तथा जिनकी अपमृत्यु (अकालमृत्यु) होतीहै, वे ही प्रेतयोनि के अधिकारी बन जाते हैं। उनकी प्रेतयोनि से मुक्ति नहीं होती।[295]

हमारे पुराणकारों एवं शास्त्रकारों की दृष्टि में सभी प्रकार के धर्मविहीन, चरित्रहीन, अनैतिक आचरणों में लीन मनुष्य प्रेत हो सकते हैं। कोई मृतात्मा अपने पारिवारिक एवं सम्बन्धीजनों, परिचितों को स्वप्न में दिखता है तो निश्चित रूप से वह प्रेतयोनि में पड़ा है। उसकी मुक्ति नहीं हुयी, न उसने स्वर्ग नरकादि की यात्रा की न सत्गति, न ही किसी योनि में जन्म पाया है। वह मृतात्मा अभी प्रेतरूप में भ्रमण कर रहा है।[296] स्वयं तो भूख-प्यास से पीड़ित रहता ही है, अपने पारिवारिक सदस्यों को भी अनेक प्रकार से पीड़ित करता है। प्रेत प्रदत्त

[295]स्कंदपुराण, 6.222.23
[296]स्कंदपुराण, 6.226.4-6

पीड़ा निम्नलिखित प्रकार से होती है-परिवार में स्त्रियों के गर्भधारण न होना, जिससे संतानोत्पत्ति, वंशवृद्धि में बाधा आना, अल्पायु में ही मृत्यु होते रहना, जीविका के साधन नहीं बन पाना, परिवार की समाज में प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होना। अकस्मात घर में आग लगना, नित्य कलह होना, मिथ्यारोप लगना, क्षयादि रोग होना, बहुप्रयत्न से अर्जित धन का व्यापार या ब्याज आदि के माध्यम से समूल नष्ट हो जाना। अनुकूल प्रकृति रहने पर भी कृषि का नष्ट हो जाना, पति-पत्नी का परस्पर प्रतिकूल विचार होना आदि ये सभी प्रेतपीड़ा के लक्षण हैं।[297] जिन परिवारों का ऐसा वातावरण होता है उन परिवारों के प्रति प्रेत भी आकर्षित होकर वहां अपना निवास बना लेते हैं तथा यदि उन घरों में स्वच्छता नहीं होती, कोई मांगलिक कार्य (पूजा-पाठ, अनुष्ठान, अतिथि सत्कार) नहीं होता, वहीं पर प्रेत निवास तथा भोजन करते हैं।[298] जिन परिवारों में पात्र तथा झूठा बिखरा रहता हो तथा जहां नियमित रूप से कलह होता है, वह घर भी प्रेतों का निवास होता है।[299] बिना दक्षिणा के किया गया श्राद्ध, जिसकी

---

[297]गरुड़पुराण, धर्मकाण्ड (प्रेतखण्ड) 9.56-62

[298]स्कंदपुराण,6.18.22, वराहपुराण, 172.28, पद्मपुराण, 1.32.33

[299]वाराहपुराण, 172.30, पद्मपुराण 1.32.34

सभी क्रियाएं न की गयी हों, जिस श्राद्ध पर रजस्वला स्त्री की दृष्टि पड़ गयी हो, वह श्राद्ध प्रेतों को प्राप्त होता है ।[300] जिस गृह में श्राद्ध काल में आया हुआ अतिथि बिना सत्कार के लौट जाता है उस श्राद्ध से मात्र प्रेतों को ही संतुष्टि मिलती है।[301] ऐसे तो प्रेतत्व निष्पादक अनेक ऐसे कृत्य हैं जिन सभी का वर्णन विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है। तथापि इतना तो सुनिश्चित है कि प्रेतत्व किसी भी स्थिति में किसी भी प्रकार से किसी के लिए हितकारक नहीं होता। प्रेतात्माएं जितनी स्वयं उत्पीड़ित तथा क्षुधपिपासा से व्याकुल रहती है, इसका विवरण पुराणों में अनेक स्थलों में प्राप्त होती है। प्रेत स्वयं ही नहीं अपने पारिवारिक सदस्यों के भी सुख, संतान, स्वास्थ्य, समृद्धि एवं समुन्नति के विनाशक होते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य के शरीर त्यागानन्तर उसकी प्रेतत्व विमुक्ति के लिए शास्त्रानुसार अन्त्येष्टि से सपिण्डिकरण पर्यन्त सभी क्रियाओं एवं विधानों को अवश्य निष्पादित करना चाहिए। सिद्ध, योगी, विरागी, सन्यासी, विशिष्ट धर्मात्मा तथा भगवद्भक्तों को मृत्यु पश्चात् मोक्षलाभ हो जाये किन्तु जनसामान्य तो सभी मृत्यु के पश्चात्

[300]**स्कंदपुराण, 6.18.24**
[301]**स्कंदपुराण, 6.18.26**

प्रेतत्व की प्राप्ति करते ही हैं। उनकी प्रेतत्व विमुक्ति के लिए उनका अन्त्येष्टि करना नितांत आवश्यक होता है। निधन के पश्चात् जनसामान्य को अपने पारिवारिक सदस्य की प्रेतत्व से मुक्ति दिलाने के लिए अन्त्येष्टि संस्कार आवश्यक है। अन्त्येष्टि की परिसमाप्ति सपिण्डिकरण श्राद्ध से ही संभव होती है। कोई व्यक्ति अपने जीवन में चाहे हितना धर्मात्मा एवं तपस्वी रहा। हो किन्तु मृत्यु के पश्चात् सपिण्डिकरणपर्यन्त उसकी अन्तयेष्टि सम्पन्न नहीं होती तो प्रेतत्व से मुक्ति भी नहीं हो सकती।[302] सपिण्डिकरण मृत्यु की तिथि से एक वर्ष पश्चात् होता है। किन्तु इतनी लम्बी अवधि क्रियाकर्म के नियमों के साथ सामान्य जनमानस के द्वारा सम्पन्न किया जाना असम्भव होने से द्वादशाह के बाद सपिण्डिकरण करने के पश्चात् भी वर्षपर्यन्त प्रेतत्व बना रहता है जो वार्षिक पिण्डदान होने के पश्चात् निवृत्त होता है। इस संदर्भ में स्मृतियों एवं पुराणों में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं जिससे स्पष्ट है कि दाह संस्कार से सपिण्डिकरण श्राद्धपर्यन्त सभी कृत्यों के सम्पन्न होने पर ही मृतक को प्रेतत्व से मुक्ति प्राप्त होती है। उन प्रेतत्व मुक्ति के लिए शास्त्रीय विधानों के अनुसार सभी कृत्य श्रद्धापूर्वक

[302]**स्कंदपुराण, 6.226.1-2**

करना चाहिए। श्रद्धा के अभाव में ये क्रियाएं भी निष्फल एवं निरर्थक हो जाती हैं। इसका कोई कल मृतक को प्राप्त नहीं होता।[303] शास्त्रविरूद्ध आचरण करने वाले अनाचारी, अधर्मी मनुष्य अवश्य ही पतन को प्राप्त करता है । अधर्म आचरण में लीन तथा धर्म मार्ग से विहीन मनुष्य की आयु क्षीण होती है। उसकी अपकीर्ति बढ़ती है, उसका सौभाग्य नष्ट तथा दुर्गति होती है। उसके स्वर्गस्त पितृगण का भी अध:पतन हो जाता है।[304] अत: अन्त्येष्टि से सपिण्डिकरणपर्यन्त सभी कृत्यों का शास्त्रीय विधिविधान तथा श्रद्धा से सम्पादित करना सभी स्वजनों का चरम एवं परम कर्तव्य है। इससे मृतक एवं तदाश्रित स्वजनों का भी कल्याण होता है।

म्रियमाण कृत्य

प्रसंगवसात् मृत्यु के पूर्व मृतक की सद्गति प्राप्ति के लिए स्वयं म्रियमाण एवं उसके पुत्र-पौत्रादि, पारिवारिक जनों के द्वारा क्या करना चाहिए। इस संदर्भ में गरूड़ के द्वारा नारायण से पूछे जाने पर नारायण ने जिस कृत्य का संकेत किया है उसे संक्षिप्त रूप से संकेतित किया जा रहा है। देहत्याग

[303]**पद्मपुराण, 3.29.34**
[304]**स्कंदपुराण, 3.3.15.35**

की भी एक विशिष्ट विधि है जिस विधि से मृतव्यक्ति को सद्गति की प्राप्ति होती है। पुत्र-पौत्रादि, पारिवारिक सदस्यों को जब ऐसा आभास हो कि व्यक्ति अब जीवित रहने की स्थिति में नहीं है तो तुलसी वृक्ष के निकट गोयम से भूमि को उपलिप्त कर मण्डल बनाये तथा उस मण्डल में तिल विकीर्ण कर कुशा बिछा दें, वहां पवित्र आसन पर शालिग्राम शिला को स्थापित कर दें। शालिग्राम शिला समग्र ज्ञाताज्ञात, कायिक, वाचिक, मानसिक, सांसर्गिक आदि समस्त पापों का अपनोदन (नष्ट) कर देती है। उसके निकट मृत्यु होने पर मुक्ति प्राप्ति सुनिश्चितहै। तुलसी वृक्ष की छाया सभी पापों को धूल देने वाली है तथा वहां मृत्यु होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। जिसके गृह में तुलसी का वृक्ष है वह गृह तीर्थ के समान है तथा वहां यमराज के दूत नहीं पहुँचते । तुलसी वृक्ष की मंजरी से युक्त होकर जो प्राण त्याग करता है चाहे वह सैकड़ों पाप जीवन में किया हो किन्तु यमराज उसकी तरफ आँख उठाकर देखते भी नहीं। संतानहीन की सद्गति नहीं होती स्वर्ग के विषय में तो उसके लिए कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसे व्यक्ति के लिए भी तिल विकण कुशासन पर मुख में तुलसीदल स्थापित कर मरा हुआ व्यक्ति पुत्रहीन होकर भी बैकुण्ठ की

प्राप्ति करता है। तिल कृष्ण, स्वच्छ एवं कपिल (भूरा) तीन प्रकार का होता है। ये तीनों प्रकार के तिल, कुश एवं तुलसी का संसर्ग मृत्यु के पश्चात् सद्गति प्रदान करता है। भगवान के मुख से निकला हुआ वचन कि मेरे स्वेद (पसीना) से समद्भूत होने के कारण तिल परम पवित्र होते हैं जिसके संसर्ग से असूर, दानव एवं दैत्य तिलों के भय से भागते हैं। भगवान के रोम से उत्पन्न हुए कुश एश्वर्य है, मृत्युकाल में उनके स्पर्श मात्र से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, क्योंकि कुश मूल में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु एवं अग्रभाग में शिव का वास होता है। अतः कुश, अग्नि, मंत्र, तुलसी, ब्राह्मण एवं गाय ये कभी अशुद्ध नहीं होते। अशुद्ध विशेष परिस्थिति में होते हैं जैसे जिस कुश पर पिण्डदान का पिण्ड रख दिया जाये। जो ब्राह्मण प्रेत के निमित्त भोजन कर ले। जो मंत्र अस्पृश्य के द्वारा उच्चारित हो जाये। जो गाय अस्पृश्य के गृह में पली हो तथा जो तुलसी अस्पृश्य के ही गृह में लगी हो एवं जिस अग्नि का प्रयोग चिता (दाहकर्म) के लिए कर लिया गया हो। ये सभी निर्माल्यता (अग्राह्य) को प्राप्त हो जाते है।। गोमय से उपलिप्त स्थान में कुश बिछाये हुए स्थान पर म्रियमाण को लेटाना चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, अग्नि आदि सभी देवता मण्डल में उपस्थित होते हैं

इसलिए उस भूमि में मण्डल बनाना चाहिए। साथ ही मण्डल बनाने के पूर्व या पश्चात् मण्डल की भूमि को गोमय से लिप्त कर देना चाहिए। राक्षस, पैशाच, भूत, प्रेत या यमदूत बिना लिप्त भूमि तथा भूमि से ऊपर अन्तरिक्ष में बैठते हैं इसलिए लिप्त एवं मंडलीकृत भूमि में म्रियमाण को स्थापित करना चाहिए। ऐसी स्थिति में म्रियमाण के मुख में यथासंभव स्वर्णरत्न, शालिग्रामरूपी भगवान विष्णु का चरणोदक डालें क्योंकि शालिग्राम शिला का जल बिन्दु मात्र भी म्रियमाण के मुख में पड़ जाये तो महापापी भी सब पाप से मुक्त हो बैकुण्ठ लोक जाता है तथा गंगाजल तो महापातक नाशक है ही क्योंकि गंगाजल सभी तीर्थों में किये गये स्नान-दान का पुण्यफल प्रदान करता है। शरीर को पवित्र करने वाले सहस्त्रों चान्द्रायण के व्रत का जो फल है तथा गंगाजल पीने का जो फल है, दोनों समान होते हैं। जिस प्रकार तूल (रुई) के ढेर में अग्नि का एक कण उसे भस्म कर देने के लिए पर्याप्त है उसी प्रकार गंगाजल का बिन्दुमात्र जनपान कर लेने से सभी पाप भस्मसात हो जाते हैं। गंगाजलपान करके प्राण त्यागने वाला व्यक्ति सारी योनियों से मुक्त होकर बैकुण्ठ को प्राप्त करता है। अन्य तीर्थ नदियों में स्नान करने पर पवित्रता की प्राप्ति होती है,

किन्तु गंगा के दर्शन, स्पर्शन, बिन्दुपान एवं गंगा का नाम लेने मात्र से सभी पातक धूल मुक्तिपरक हो जाते हैं। गंगा उच्चारण करते हुए जिसके प्राण निकलते हैं वह मृतक विष्णुपुर बैकुण्ठ की प्राप्ति करता है तथा जन्ममरणादि के बंधन से मुक्त हो जाता है। प्राणों के निकलते हुए जो व्यक्ति श्रद्धा के साथ मन गंगा का चिंतन कर लेता है वह परमगति को प्राप्त कर लेता है। अत: गंगा का नमन, स्मरण, गंगाजल का पान तथा भागवत का किंचित मात्र श्रवण भी मोक्षदायक है। भागवत के श्लोक, आधे श्लोक या एक पद भी अंतकाल में जिसके मुख से निकल जाए अथवा कानों में पड़ जाए वह व्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, पुन: वहां से परावर्तन नहीं होता।

वेद, उपनिषद् का पाठ, भगवान विष्णु या शिव की स्तुति से भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों का मरण मुक्तिदायक होता है। प्राण प्रयाण के समय यदि म्रियमाण निराहार रह जाए तो यह एक प्रकार का सन्यास या विरक्ति है। इसे आतुर संन्यास कहते हैं। जो द्विजातियों के लिए मुक्तिदायक है । प्राण निकलने को उद्धत हो जाए उस समय यदि किसी के मुख से निकल जाए कि मैंने संन्यास लिया है तो वह बैकुण्ठ को प्राप्त कर पुनर्जन्म मरणादि बंधन से

मुक्त हो जाता है। जो धार्मिक व्यक्ति इस विधान से रहता है उसके प्राण उर्ध्व छिद्रों से सुखपूर्वक निकल जाते हैं। अपान वायु से मिले हुए प्राण जब अपान वायु से पृथक होकर सूक्ष्म रूप धारण करते हैं तो स्थूल इस शरीर से बाहर निकल जाते हैं। प्राण वायु रूपी ईश्वर के शरीर से निकल जाने पर काल से पीड़ित होकर शरीर उसी प्रकार पृथ्वी पर गिर जाता है जैसे निराधार वृक्ष। प्राणविहीन शरीर चेष्टाहीन, निंदित, अस्पृश्य, दुर्गंधयुक्त तथा सभी का निंदापात्र बन जाता है। इस शरीर की तीन ही अवस्थाएं कृमि (कीड़े-मकोड़े), विड (मल-मूत्र जैसे दुर्गंधयुक्त) तथा भस्म (राख) होती है। ऐसी देह का क्या अभिमान जो क्षणमात्र में विध्वंस हो जाने वाली है। पंचतत्वों से निर्मित इस शरीर के पंचतत्व - पंचतत्वों में ही मिल जाते हैं। पृथ्वी-पृथ्वी में, जल-जल में, अग्नि-अगिन में, वायु-वायु में तथा आकाश-आकाश में मिल जाता है। सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान आत्मा तो सर्वव्यापक, शिवस्वरूप, नित्यमुक्त, जगतसाक्षी, अजन्मा एवं अमर है। सभी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों से युक्त आत्मा इन्द्रियों के विषयों से युक्त काम, क्रोध, राग आदि मनोविकारों से संयुक्त कर्मकोश से सम्पृक्त, पुण्यवासना से सम्पन्न अपने कर्म से निर्मित सूक्ष्म नवीन शरीर में उसी तरह से प्रविष्ट होता हैं जैसे

किसी गृहस्वामी का गृह भस्म हो जाने पर नवीन गृह में प्रवेश करता है। तब छोटी-छोटी घण्टियों से युक्त, चमर से सुशोभित विमान लेकर देवदूत आते हैं। वे देवदूतत्त्वेत्ता, प्रतिभासम्पन्न, धर्मप्राण लोगों के प्रति सदा कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उस विमान से लेकर स्वर्ग चले जाते हैं। स्वर्ग जाने वाले दिव्य देह को धारण कर निर्मल वस्त्र एवं माला को धारण किये हुए रत्नजड़ित स्वर्णाभूषणों से सुशोभित होकर वह जीवात्मा अपने दान एवं पुण्य के प्रभाव से देवताओं द्वारा सम्मानित होकर स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं।[305]

मरणोत्तर कृत्य

अन्त्येष्टि संस्कार में मरणोत्तर कृत्य शरीर से प्राण निकलने के पश्चात् से सविधि शवदाह सम्पन्न होकर मलिनषोडशी (दशगात्र कृत्य), मध्यमषोडशी (एकादशाह कृत्य) तथा उत्तमषोडशी (सपिण्डिकरण) पर्यंत की क्रियाएँ श्राद्ध का रूप लेती हैं। श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति है-"श्रदि-हृदि धार्यते या सा श्रद्धा तया श्रद्धयाप्रेतं पितृनुद्दिश्यय च यत् पिण्ड प्रिय भोजनादिकम् ब्राह्मणाय दियते तत् श्राद्धम्" अर्थात् हृदय में स्थित होने वाले भाव का नाम श्रद्धा है

[305] गरुड़पुराण (प्रेतकल्प), पृ0 113-23

तथा उस श्रद्धा से प्रेत (मृतव्यक्ति) एवं पितृगण को उद्देश्य करके जो भी पिण्ड एवं प्रिय भोजनादि ब्राह्मण को दान दिया जाता है उसका नाम श्राद्ध है।[306]

श्राद्ध में श्रद्धा की प्रधानता है किन्तु श्राद्ध की महिमा में यह भी कहा गया है कि 'श्रद्धया अश्रद्धया वा' अर्थात् श्रद्धा या अश्रद्धा जैसे भी प्रेत एवं पितृगण के लिए जो कर्म किया जाये वह श्राद्ध है तथा उसी प्रकार श्राद्ध फलप्रद होता है जिस प्रकार ज्ञातवशात् या अज्ञातवशात् अग्नि का स्पर्श हो जाने पर अग्नि की दाहकता शक्ति से अंग प्रभावित होकर जलता ही है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा अश्रद्धा जैसे भी श्राद्ध का निष्पादन परिवार में प्रेत-पितृगण के लिए भी कल्याणकारी होता ही है। यूँ तो विभिन्न ग्रंथों एवं ऋषि- महर्षियों ने श्राद्ध को इसी प्रकार परिभाषित किया है। जिन सभी को विस्तार भय से उद्धृत नहीं किया जा सकता। श्राद्ध से प्रेत का कल्याण, पितृगणों को संतुष्टि तथा स्वयं श्राद्ध निष्पादन करने वाला व्यक्ति भी निष्पाप होकर मुक्ति प्राप्त करता है। इसलिए श्राद्ध अवश्य करना चाहिए। देवपूजन से भी अधिक महत्व पितृपूजन का है जिससे श्राद्धकर्ता की आयु, कीर्ति, पुष्टि, संतुष्टि,

[306] **निर्णयसिन्धु, पृ0 556**

धन-धान्य, बल तथा सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। श्राद्ध से प्रेत की मुक्ति होती ही है। श्राद्ध संपादन करने वाले, श्राद्ध की विधि जानने वाले, श्राद्ध करने की प्रेरणा देने वाले, श्राद्ध का अनुमोदन करने वाले ये सभी श्राद्ध के पुण्यफल को प्राप्त करते है।। अतः श्राद्धकर्म श्रद्धा से शक्ति के अनुरूप सम्पन्न करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। यह सुविदित है कि मृत व्यक्ति अपनी परलोक यात्रा में अपनी स्थूल शरीर को भी स्वयं के द्वारा नहीं ले जा सकता तो अपनी महायात्रा के 'पाथेय' (मार्ग में आवश्यक अन्न, जलादि) सुविधाओं को कैसे वहन कर सकता है। ऐसी स्थिति में उसके पुत्र-पौत्र-दौहित्र, भ्राता आदि पारिवारिक सम्बन्धियों के द्वारा श्राद्ध विधि से जो कुछ पिण्डदान, ब्राह्मण को भोजनादि, व्यंजन प्रदान किया जाता है वह मृतव्यक्ति को प्राप्त होता है इसीलिए मृत्यु के पश्चात् पिण्डदान की शास्त्रीय व्यवस्था है।[307]

सर्वप्रथम मृत्यु के पश्चात् शवयात्रा के अन्तर्गत जो छः पिण्ड प्रदान किये जाते हैं उनसे भूमि के अधिष्ठातृ देवताओं की प्रसन्नता तथा भूत-प्रेत पिशाचादि के द्वारा होने वाली बाधाओं का भी समाधान हो जाता है। तत्पश्चात् दशगात्र में किये

[307]साभार, स्व0 गणपति शास्त्री

जाने वाले दस पिण्डों के दान से मृतात्मा के आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है जिससे वह मृतात्मा अपनी महायात्रा को सम्पन्न करता है। पुन: यात्रा के मार्ग में पाथेय (अन्न-जल-भोजनादि की व्यवस्था) की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्तमषोडशी के सोलह पिण्डदान से उसकी पूर्ति होती है। स्वजनों के द्वारा इन पिण्डों के न देने से इस महायात्रा में मृतात्मा को बहुत ही कष्ट भोगना पड़ता है। विधिवत् श्राद्ध स्वरूप पिण्डदानादि के न करने से मृतात्मा की प्रेतत्व विमुक्ति नहीं होती साथ ही महामार्ग में कष्ट होता है। श्राद्ध का निष्पादन न करने वाले की मृतात्मा अपने सम्बन्धियों का रक्तपान करता है तथा उन्हें शाप भी देता है। जिससे अभिशप्त परिवार नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं, वंश परम्परा विछिन्न होती है, परिवार के सदस्य रोगी, अभावग्रस्त तथा अल्पायु होने के साथ-साथ मृत्यु के पश्चात् वे भी नरक में जाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में तो 'देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्" अर्थात् देवता एवं पितृगण के कार्य पूजा-अर्चना तथा श्राद्ध में कदापि प्रमाद न करने की बात कही गयी है।[308]

प्राप्त प्रसंगानुसार इस जिज्ञासा का होना स्वाभाविक

---

[308] **तैत्तिरीय उपनिषद 1.11.1**

है कि श्राद्ध में पुत्र-पौत्रादि या श्राद्धकर्ता के द्वारा प्रदान किये गये पिण्ड एवं अन्न-व्यंजनादि पितृगण को कैसे प्राप्त होते हैं? शास्त्रवचनों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मानुसार अपने द्वारा किये गये पाप-पुण्य के प्रभाव से देवता से लेकर चींटी तक विभिन्न योनियों में जा सकता है। श्राद्धकर्ता के द्वारा दिये गये पिण्डादि पदार्थ व्यक्ति के नाम, गोत्र एवं मंत्र के प्रभाव से विश्वेदेव आदि दिव्य पितृगणों को प्राप्त करा देते हैं।[309] पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्राद्धकर्ता ने अपनी श्रद्धा भक्ति के अनुसार यथाशक्ति उपलब्ध खाद्य सामग्री, मिष्ठान्न, फलादि श्राद्ध के रूप में समर्पित करता है वह विभिन्न योनि को कैसे प्राप्त होकर उन्हें तृप्त करता है, क्योंकि हाथी जैसे विशालकाय प्राणी को पिण्ड मात्र या सामान्य प्राणी के भोजन मात्र पदार्थ से उसका पेट कैसे भर सकता है अथवा एक चींटी एक पिण्ड का कैसे उपभोग कर तृप्त हो सकती है। नाम, गोत्र एवं मंत्र के प्रभाव से स्वकर्मानुसार प्राप्त योनि के श्राद्ध में प्रदान की गयी वस्तु उनके तृप्तिकर आहार के रूप में परिणत होकर उन्हें प्राप्त हो जाती है तथा वह पूर्वज उससे तृप्त हो जाता है। जिस प्रकार सहस्त्रों गायों एवं बछड़ों के एक साथ गोचारण

[309] **पद्मपुराण, 10.38-40**

करने से कोई भी बछड़ा अपनी माता को खोज लेता है तथा कोई भी गाय अपने ही बछड़े को खोज लेती है। उसी प्रकार नामत्र, गोत्र एवं मंत्र की शक्ति से श्राद्ध में प्रदान की गयी पिण्डादि भोज्य सामग्री तत्-तत् योनिगत पूर्वज के आहार के रूप में परिणत होकर प्राप्त हो जाता है ।[310] कोई यदि अपने कर्म के प्रभाव से देवयोनि में गया हो तो वह पिण्ड उसे अमृत बनकर प्राप्त होगा। इसी प्रकार पशु योनि में वह पिण्ड उसे चारा बनकर प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्यान्य योनि में पहुँचे पितृगण को निश्चय ही श्राद्ध में प्रदान की गयी वस्तु उनके आहार के रूप में प्राप्त हो जाती है।[311]

श्राद्ध के दो भेद होते हैं-**पिण्डदान तथा ब्राह्मण भोजन।** मृत्यु के पश्चात् जो देवलोक या पितृलोक को प्राप्त करते हैं उन्हें नाम, गोत्रपूर्वक मंत्रों से आवाहित करने पर वे श्राद्धस्थल में उपस्थित होकर श्राद्ध भोजन के लिए निमंत्रित ब्राह्मणों के माध्यम से ग्रहण करते हैं तथा स्वयं सूक्ष्मग्राही होने से भोजन के सूक्ष्मकणों के आघ्राण (सूंघने) मात्र से तृप्त हो जाते हैं। अथर्ववेद में उल्लेख है कि ब्राह्मणों को भोजन कराने से पितृगण को प्राप्त हो

---

[310]**वायुपुराण 83.119-20**
[311]**साभार, स्व0 गणपति शास्त्री**

जाता है।[312] मनुस्मृति में उल्लिखित है कि ब्राह्मण के मुख से देवता हव्य (अग्नि में हवन के माध्यम से देवताओं का आहार) तथा उसी से पितृगण कव्य ग्रहण करते हैं।[313] पितृगण अपने कर्मानुसार वायवीय शरीर धारण कर अन्तरिक्ष में निवास करते हैं, अपने वंशजों द्वारा श्राद्धपक्ष आ गया है, यह बोलने पर इसके श्रवण मात्र से तृप्त हो जाते हैं। ये स्मरण मात्र से श्राद्धस्थल में उपस्थित होकर ब्राह्मणों के साथ भोजन से तृप्त हो जाते हैं। इनको अन्य लोग वहां देख नहीं पाते क्योंकि इनका शरीर सूक्ष्म एवं वायवीय होता है।[314] मनुस्मृति में उल्लेख है कि श्राद्ध में निमंत्रित ब्राह्मणों में गुप्तरूप से पितृलोग निवास कर भोजन ग्रहण करते हैं।[315] शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि सूक्ष्मधारी होने के कारण पितृगण मनुष्यों से गुप्त रहते हैं। जल, अग्नि तथा वायु प्रधान होने के कारण लोक-लोकान्तर में भी इनके आवागमन में कोई बाधा नहीं होती।[316] धनाभाव, विपन्नता की स्थिति में भी शास्त्रों ने श्राद्ध विधान का विकल्प बताया है। यदि श्राद्ध लिए आवश्यक अन्न-वस्त्रादि के क्रय में धनाभाव कारण

---

[312]अथर्ववेद, 4.34.8
[313]मनुस्मृति 1.95
[314]कूर्मपुराण, उत्तरभाग 22.3-4
[315]मनुस्मृति, 3.189
[316]शतपथ ब्राह्मण, 2.3.4.21

हो तो साग-भाजी से भी श्राद्ध किया जा सकता है। यदि साग-भाजी की व्यवस्था न हो सके तो तृण काष्ठ संग्रह कर उसे बेचने के पश्चात् प्राप्त धन से श्राद्ध करें। इसका फल लाख गुना अधिक होता है। यदि विशेष परिस्थिति के कारण तृण काष्ठ का संग्रह भी प्राप्त न हो सके तो हरी-हरी घास एकत्रित कर गाय को आहार प्रदान कर देने मात्र से पितृगण की तृप्ति हो जाती है।[317] इसका दृष्टान्त पद्मपुराण में ही अन्यत्र प्राप्त होता है।[318]यदि ऐसा वातावरण हो कि घास की भी प्राप्ति संभव न हो तो कैसे श्राद्ध सम्पन्न हो एतदर्थ विष्णु पुराण में यह श्राद्ध का अनुकल्प प्राप्त होता है कि श्राद्धकर्ता नितांत शांत-एकांत में जाकर अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर पितृगण से निवेदन करे कि मेरे पास आप लोगों के श्राद्ध करने का चित्त तो है किन्तु वित्त के अभाव में मैं आप लोगों का श्राद्ध सम्पन्न नहीं कर पा रहा हूँ। आप लोग मेरी इस भक्ति से तृप्त हो।[319] यदि धन-धान्य की सम्पन्नता हो तो अपने सामर्थ्यानुसार विधि-विधान से शठता (कृपणता) का त्याग कर उदारता से श्राद्धकर्म करना चाहिए, किन्तु किसी भी

---

[317]पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, 52.310
[318]पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, 52.319

[319]विष्णुपुराण, 3.14.30

परिस्थिति में श्राद्ध का त्याग न हो।

और्ध्वदैहिक कृत्य (मरणोत्तर कृत्य)

प्राणत्याग के पश्चात् सपिण्डिकरपर्यन्त की क्रिया तक किया जाने वाला संस्कार और्ध्वदैहिक कर्म कहलाता है जिसका निष्पादन करने वाले पुत्र-पौत्रादि पैतृक ऋण से मुक्त हो जाते हैं। बहुविध दान से अधिक महत्वपूर्ण यह अन्त्येष्टि संस्कार होता है जो अग्निष्टोम महायाग का फल प्रदान करता है। मृत्यु के पश्चात् रुदन करना सर्वथा वर्जित है । रुदन से गिरने वाले अश्रुबिंद एवं नाक मुख से निकलने वाला कफ, थूक मृतक के मुख में जाता है, इसलिए मृत्यु के पश्चात् रोना नहीं चाहिए । म्रियमाण कृत्य में बतायी गयी विधि के अनुसार मृतक (शव) को गृह के द्वार पर सिर उत्तर तथा पैर दक्षिण दिशा में रखकर स्थापित करना चाहिए। शास्त्र की परम्परा में मृत्यु के पश्चात् शोक का परित्याग कर सर्वप्रथम पुत्र को अपना मुण्डन कराना चाहिए। इससे मृतात्मा एवं श्राद्धकर्त्ता दोनों को सभी पापों से मुक्ति प्राप्त होती है। माता-पिता की मृत्यु होने पर जिसने मुण्डन नहीं कराया वह भवसागर से पार कराने वाला पुत्र नहीं कहा जा सकता। अत: बंधु-बांधवों के साथ शिखा, नख, कक्ष (कांख) से विवर्जित मुण्डन अर्थात् क्षौर

कराकर स्नान करके धौतवस्त्र पहनाना चाहिए जबकि लोकव्यवहार में यह मुण्डन श्मशान में होता है। तत्पश्चात् जल लाकर शव को स्नान कराने के पश्चात् चंदन, माला से शव को सुशोभित कर गंगा की मिट्टी से लेपन कर नवीन वस्त्र ओढ़ाकर यदि सौभाग्यवती स्त्री का शव हो तो उसे रंगीन गोटेदार, सुंदर वस्त्र से ढ़ककर शव का नाम, गोत्र का उच्चारण करते हुए अपसव्य (यज्ञोपवीत को बाएं कंधे से दाहिने कंधे पर धारण करना) हो दक्षिण मुख होकर हाथ में जल, तिल, चंदन, श्वेत पुष्प, त्रिकुश लेकर नाम, गोत्रसहित संकल्पपूर्वक मृत्यु के स्थान पर मृतक की प्रेतत्व निवृत्ति एवं भूमि अधिष्ठातृ देवता की तृप्ति हेतु शव के नाम से पिण्डदान तीर्थ प्रदेश (अंगूठा एवं तर्जनी अंगुल का मध्य भाग) से करना चाहिए । इस पिण्ड का नाम भी 'शव' ही होता है। पिण्डदान सम्पन्न होने पर पुत्र भगवान विष्णु से करबद्ध होकर प्रार्थना कर कहता है कि "हे अनादि निधान शंक, चक्र, गदाधर, अक्षय, पुण्डरीकाक्ष भगवान इस प्रेत को मोक्ष प्रदान करें।" मृत्यु स्थान से शवदाह पर्यन्त अलग-अलग नामों से छः पिण्ड दिये जाते हैं तथा शवदाह से दशगात्रपर्यन्त दस पिण्डदान किये जाते हैं जिसे 'मलिनषोडशी' के नाम से जाना जाता है। इन छः

पिण्डों से शव में संस्कार योग्यता आती है। शव सुसंस्कृत होकर दाह के योग्य बनाता है तथा बाद के दस पिण्डों से मृतक के आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर के दस अंगों का निर्माण होता है। जिस सूक्ष्म शरीर से मृत प्राणी परलोक पथ की यात्रा सम्पन्न करता है। मृत्यु पश्चात् प्रथम दिन के पिण्ड से प्रेतात्मा की भोगदेह का सिर, दूसरे दिन के पिण्ड से ग्रीवा (गर्दन) तथा स्कंध (कंधा), तीसरे दिन के पिण्ड से हृदय, चौथे दिन के पिण्ड से पीठ, पांचवें दिन के पिण्ड से नाभि, छठें दिन के पिण्ड से कटि (कमर), सातवें दिन के पिण्ड से गुप्तांग, आठवें दिन के पिण्ड से ऊरु (जंघा), नौवें दिन के पिण्ड से पैर तथा तलवा तथा दसवें दिन के पिण्ड प्रेत के आहार बनते हैं।

मृतस्थान पर शव नामक पिण्ड देने के पश्चात् मृतक को मृत्यु स्थान से गृह के द्वारदेश पर रखकर पुनः पूर्वोक्त विधि से मृतक के नाम, गोत्र पूर्वक संकल्प करते हुए प्रेतत्व निवृत्ति एवं वास्तु अधिष्ठातृ देवता की तृप्ति हेतु 'पान्थ' नामक पिण्ड प्रदान किया जाता है जिससे भूत-प्रेतादि दुर्गति प्राप्त योनि के तत्वों से कोई उपद्रव नहीं होता। ततः परिवार की पत्नी, बहु आदि स्त्रियों के द्वारा शव की पूजा एवं प्रमाणपूर्वक पुत्र के द्वारा बंधु-बांधवों सहित शव को कंधे पर रखा जाता है। जो पुत्र अपने कंधे पर

अपने पिता के शव को रखकर शवयात्रा सम्पन्न करता है उसको यात्रा के एक-एक पग पर एक-एक अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। पिता के द्वारा लालित-पालित पुत्र अपने कंधे पर पिता को उठाकर पितृऋण से मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् 'राम नाम सत्य' या 'हरिबोल' जैसे शब्दों का उच्चारण करता हुआ पुत्र शवयात्रा प्रारम्भ कर श्मशान के अधोमार्ग में भूमि को अभिसिंचित कर शव को स्थापित करता है तथा यथासंभव शव को स्नान कराकर या उसपर जल छिड़ककर 'भूत' नामक तृतीय पिण्ड पूर्वोक्त विधि से प्रदान करता है जिससे पिशाच, राक्षस, यक्ष, किन्नर आदि शक्तियां शव की हवनीयता (दाह) की योग्यता को दूषित नहीं कर पाते। तत्पश्चात् उस स्थान से शव लेकर पुत्र श्मशान पर पहुँचता है तथा शव का मुख उत्तर एवं पैर दक्षिण दिशा में रख देता है। साथ ही शव के दाह के लिए श्मशान के उस स्थान को साफ कर उस भूमि को जल से अभिसिंचित तथा उस स्थान पर उत्तर-दक्षिण की तीन रेखाएं खींचकर इन रेखाओं के मध्य घी, मिट्टी अंगूठा एवं मध्यमा अंगूली के सहयोग निकालकर वेदिका बनाता है। उस वेदिका को पुनः जल से सिंचित कर विधि-विधान के साथ अग्नि की स्थापना कर पुष्प, अक्षत से क्रव्याद (शव को भस्म करने

वाली अग्नि) नामक अग्नि की पूजा कर यजुर्वेद के 'लोमभ्य स्वाहा: ' इत्यादि मंत्र से पुत्र हवन करता है। तत्पश्चात् प्रार्थना करता है कि "हे अग्निदेव! आप सभी प्राणियों के भरण-पोषण करने वाले सारे जगत के प्राणियों के उत्पादक एवं परिपालक हैं। यह मृतक एक सांसारिक प्राणी रहा है, अत: आप इसे स्वर्ग ले जाओ ।" इस प्रकार अग्नि की प्रार्थना कर उसी स्थान पर चिता बनाये तथा उसे चंदन, तुलसी, पलाश तथा पीपल आदि की काष्ठ से सजाकर प्रेत के नाम से एक पिण्ड चिता तथा एक पिण्ड शिव के हाथ पर अर्थात् एक साथ दो पिण्ड देता है। चिता में स्थापित करने के सपिण्डिकरणपर्यन्त इस अवधि में मृतक की प्रेत संज्ञा होती है। इस प्रकार इन पांच पिण्डों के द्वारा शव में आहुति की योग्यता होती है। अन्यथा पूर्वोक्त भूत-प्रेत, पिशाचादि, राक्षण आदि विघ्न उत्पन्न करते हैं जिससे कि प्रेत की आहुति योग्यता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रेत को पांच पिण्डदान करने के बाद पूर्व से आवाहित क्राव्यादि नामक अग्नि जिसमें हवन किया जा चुका है उससे तृण के सहयोग से अग्नि लेकर पुत्र पिता के मुख में अग्नि दे तब जबकि पंचक न हो। पंचक में मृतक होने पर व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त करता है इसलिए पंचक में दाह नहीं करना चाहिए। यदि

पंचक में दाह कर दिया गया तो परिवार के अन्य चार लोगों की मृत्यु होती है, किन्तु ग्रन्थान्तर में पांच लोगों की मृत्यु बतायी गयी है। विशेषत: पंचक में मृत व्यक्ति का दाह पंचक में नहीं होना चाहिए। पंचक में दाह न हो तो केवल शांति से ही दोष निवृत्त हो जाता है। यदि पंचक में ही मृत्यु हो तथा पंचक में ही दाह करना हो तो चार पुतले तथा शांति दोनों करना पड़ता है[320] किन्तु ग्रंथान्तर अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश में उद्धृत ब्रह्मपुराण के वचनानुसार पंचक में मृत्यु होने पर शव के साथ कुश के पांच पंतले प्रेतवाह, प्रेतसखा, प्रेतप, प्रेतभूमिप तथा प्रेतहर्ता नामक चार पुतले को क्रमशः शव के सिर, नेत्रों, बायीं कोख, नाभि तथा पैरों पर रखकर शव के साथ दाह करना चाहिए।[321]

धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तरा भाद्रपद तथा रेवती ये पांच पंचक नक्षत्र है। इन नक्षत्रों में मृत्यु होने से गृह में सभी प्रकार की हानि, अपने पुत्र एवं गोत्रियों के लिए कुछ विघ्न होता है। पंचक में दाह विधिपूर्वक करना चाहिए जिससे सभी दोषों की शांति हो जाये। इसमें शव के निकट कुश बनाकर जिस नक्षत्र में प्राणी की मृत्यु हो उसके

---

[320] **गरूड़पुराण, प्रेतकल्प, पृ0 124-130**
[321] **अन्त्यकर्म, श्राद्धप्रकाश, पृ0 102**

अतिरिक्त अन्य चार नक्षत्रों के मंत्रों से अभिमंत्रित कर अग्नि में तपाया हुआ स्वर्णखण्ड उन पुतलों में रखकर 'प्रेताजयते' इस मंत्र से हवन कर शव के साथ पुतलों का भी दाह करना चाहिए तथा सपिण्डन के दिन पंचक की शांति के लिए तिल से परिपूर्ण पात्र स्वर्ण, रजत, रत्न, घृतपूर्ण कांसे का पास इन वस्तुओं का दान पंचक दोष की शांति के लिए करने का विधान है।

इस प्रकार पुतला शांति विधान करते हुए जो दाह करता है उसके परिवार, संगोत्रियों में कोई विघ्न नहीं होता तथा प्रेत भी सद्गति प्राप्त करता है। शव के अर्ध अथवा पूर्ण दग्ध की स्थिति में दाहकर्त्ता द्वारा मस्तक को फोड़ देना चाहिए। गृहस्थ के मस्तक को बांस या काठ तथा यति (संन्यासी) के मस्तक को श्रीफल (बेल) से फोड़ना चाहिए। जिसे 'कपालक्रिया' कहा जाता है। पितृलोक की प्राप्ति के लिए शव केबब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर यजुर्वेद के मंत्र 'अस्मात्त्वमधिजातोऽसि से ज्वलतु पावक' पर्यन्त इस मंत्र से तिलिमिश्रित घृत की आहुति देकर उच्च स्वर में स्वजनों को रुदन करना चाहिए। इस प्रगाढ़ रुदन से गतात्मा को सुख प्राप्त होता है। दाह समाप्ति के पश्चात् प्रथम स्त्री पश्चात् गृह के पुरुषों सहित स्वजनों को स्नान करना चाहिए। साथ ही मृतात्मा

के नाम गोत्र का उच्चारण करते हुए तिलांजलि देनी चाहिए। तत्पश्चात् नीम का पत्र चबाते हुए स्वजनों द्वारा मृतक की विशेषताओं का वर्णन किया जाना चाहिए। पुनः स्त्री समूह आगे तथा पुरुष समूह पीछे अपने गृह को जायें ।[322]लोक में नीम का पत्ता, काली मिर्च या मिर्चा मुख में, पीला सरसों का स्पर्श तथा विकिरण कर संभव हो तो प्रथम पत्थर पर पैर रखकर घर में प्रवेश करें किन्तु दाहकर्ता गृह के बाहर ही रहेगा। इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी शव के साथ श्मशान तक जाती थी जो प्रथा कतिपय सम्प्रदाय में आज नहीं है।

तत्पश्चात् दस दिनों तक मृतात्मा के कल्याण हेतु मृत्यु स्थान अथवा गृह के द्वार पर मिट्टी के पात्र में तिल के तेल का दीपक जलाना चाहिए। यूँ तो अखण्ड दीपक का विधान है किन्तु अखण्ड दीपक न जलने की स्थिति में सामान्य दीपक तो दस दिनों तक जलना ही चाहिए। यह विशेष रूप से अवधेय है कि प्रेतकर्म में कोई भी क्रिया संकल्पपूर्वक ही करनी चाहिए। अतः "प्रेत के यममार्ग गमन में उपकारक घोर अंधकार निवारक यह दीपक मेरे द्वारा दिया जा रहा है, प्रेत को प्राप्त हो । " लोकाचार में कहीं यह कार्य होता है तथा कहीं नहीं भी होता है।

---

322 **गरूड़पुराण, प्रेतकल्प, पृ0 130-137**

तत्पश्चात् प्रातःकाल या सायंकाल स्नान कर किसी नदी तालाब के तट अथवा निकट के प्रसिद्ध स्थान जहांग ग्राम या नगर के निवासियों के लिए ऐसे कृत्य की व्यवस्था हो, वहां पीपल वृक्ष में एक मिट्टी का घड़ा उसमें नीचे छोटा सा छिद्र बनाकर उसमें शा अथवा सूत की बत्ती डालकर जिससे उस घट को जल से परिपूर्ण करने पर जल नीचे बूंद-बूंद टपकता रहे, ऐसे घट में जल भरकर उसमें तिल छोड़कर घड़े के कण्ठ में रस्सी बांधकर ऊपर वृक्ष में लटकाकर ढक दिया जाये। वहीं पर एक चौड़े मुंह का मिट्टी का पात्र भी दीपक के लिए उसी घड़े के निकट लटका दिया जाये जिसके ढक्कन में छिद्र हो जिससे उसमें रखा दीपक बुझ न सके तथा तिल के तेल से परिपूरित दीपक जलाकर उस पात्र में दीपक का मुख दक्षिण दिशा में करके रख देना चाहिए। ततः पीपल वृक्ष के निकट बैठकर भगवान 'पुण्डरीकाक्ष पुनातु' कहकर दाहकर्त्ता अपने ऊपर जल छिड़ककर तीन बार नारायण का स्मरण कर आचमन, हस्तप्रक्षालन कर अपसव्य होकर पवित्री धारण कर दक्षिण दिशा की ओर मुख कर बैठ जाये। हाथ में त्रिकुश, तिल तथा जल लेकर प्रेत के नाम गोत्र का उच्चारण करते हुए प्रेत के चितादाह जनित ताप के उपशमन हेतु तथा महापथ की यात्रा

से उत्पन्न ताप, श्रम निवारक पीपल वृक्ष की शाखा में टंगा हुआ तिल, जल से परिपूर्ण यह घट तुम्हारे लिए मेरे द्वारा दिया जा रहा है, तुमको प्राप्त हो। यह कहकर तिल तथा जल घड़े पर छोड़ दे। तत: हाथ जोड़कर प्रार्थना करें कि सभी तापों के उपशमन, मार्ग के श्रम का विनाशन करने वाला, प्रेत को तृप्ति प्रदान करने वाला यह जल पीयो तथा सुखी हो। इसी प्रकार दूसरा संकल्प करे कि मार्ग में घोर अंधकार निवारक पीपल वृक्ष में अवलम्बित घट के मध्य में स्थित यह दीप मेरे द्वारा दिया जा रहा है, तुम्हें प्राप्त हो।

इस प्रकार हाथ में लिया हुआ अक्षत, तिल, दीपक वाले पात्र पर छोड़ दें तथा पूर्वोक्त प्रकार भगवान से प्रार्थना करें कि हे प्रभु आप प्रेत को मोक्ष प्रदान करें। तत्पश्चात् तीन-तीन छोटी-छोटी लकड़ियों को एक सूत में बांधकर दो तिकड़ी बनाकर उसी घट के नीचे पीपल वृक्ष की जड़ के मूल में रखकर उनपर बिना पका मिट्टी का कसोरा या दोनिया में दूध तथा जल रखकर अपने नाम, गोत्र तथा प्रेत के नाम गोत्र का उच्चारण कर यह कहें कि भूख-प्यास के निवारण के लिए आकाश में यह दूध तथा जल के पात्र तुमको प्राप्त हो। जल से स्नान करो तथा दुग्ध

का पान करो। यह क्रिया जिस दिन सम्पन्न हो जाय उस दिन से दस दिन पर्यन्त प्रातः सायं पीपल वृक्ष के नीचे पहुँचकर घट में जल भरें तथा सायंकाल दीपक जलाकर रखें। संकल्प एवं प्रार्थना पूर्ववत रहेगी।[323]

प्रथम दिन का भोजन अपने गृह से न लेकर अन्यत्र कहीं से बिना नमक का ग्रहण करना चाहिए। यह शास्त्र का विधान है किन्तु व्यवहार में अपने परिवार के अन्न को दाहकर्त्ता द्वारा स्वयं पकाकर उसका तीन भाग कर दो भाग गोग्रास तथा प्रेत के निमित्त गृह के बाहर दस दिनों तक रखता है तथा एक भाग स्वयं ग्रहण करता है। ततः दूसरे, तीसरे या चौथे दिन 'अस्थि संचयन' की क्रिया होनी चाहिए यह विधान उल्लिखित है किन्तु व्यवहार में तो दाह के दिन ही अस्थि संचयन हेतु दाहकर्त्ता हाथ में ऊनी सूत्र तथा कुश की पवित्री को धारण कर श्मशानवासी भूतप्रेतादियों को 'यमाय त्वा' इत्यादि मंत्र से उड़द की बलि देकर तीन परिक्रमा कर चिता स्थान को दूध तथा जल से अभिसिंचित कर वहां से प्रेत की अस्थियां एकत्रित कर पलाश के पत्तल में रखकर दूध तथा जल से धोकर मिट्टी के पात्र में रखकर यथाविधि श्राद्ध करना चाहिए। इस प्रकार

---

[323]**अन्त्यकर्म, श्राद्धप्रकाश, पृ0 107-108**

अस्थि का प्रक्षालन तथा चंदन, कुमकुम आदि लगाकर किसी पात्र में रखकर हृदय तथा मस्तक से लगाकर नमस्कारपूर्वक गंगा में प्रवाहित करना चाहिए। दशाह के मध्य में किसी भी दिन जिस मृतक की अस्थि गंगा में पड़ जाती है उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह मुक्त होकर ब्रह्मलोक चला जाता है। जितने दिनों तक गंगा के जल में अस्थि पड़ी होती है उतने हजार वर्ष वह स्वर्गलोक में वास करता है। गंगाजल की तरंगों को स्पर्श करता हुआ वायु जब मृतक की अस्थियों को स्पर्श करता है तो उसके सारे पाप विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सत्पुत्र स्वयं ही पिता की अस्थि को गंगा में डाले । ततः दशगात्र की क्रिया प्रारंभ होती है।[324]

दशगात्र विधि (मलिनषोडशी)

मरणोत्तर कृत्य के पश्चात् मृत्यु के दसवें दिन सम्पन्न होने वाले दशगात्र के साथ ही पुत्रहीन व्यक्ति का दशगात्र आदि क्रियाएं कौन करेगा? इस संदर्भ में गरुड़ पुराण में उल्लेख है कि पुत्र, पुत्र के अभाव में मृतक की पत्नी, पत्नी के अभाव में सहोदर भ्राता, भ्राता के अभाव में शिष्य, ब्राह्मण या अपने सपिण्ड का कोई व्यक्ति मृतक की क्रिया कर सकता

---

[324]गरूड़ पुराण, प्रेतकल्प, पृ0 138-142

है। ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ भ्राता के पुत्र-पौत्रादियों तथा इन सभी के अभाव में मृतक का मित्र भी पुत्रहीन मृतक की सभी क्रियाएं कर सकता है। किसी भी रूप में मृतक की क्रिया का लोप नहीं होना चाहिए। सबके अभाव में पुरोहित मृतक की क्रियाएं कर सकता है। अनाथ की अन्त्येष्टि संस्कार करने वाले को करोड़ों यज्ञ का फल मिलता है । अनेक भाई होने का स्थिति में यदि सभी भाई परस्पर विभक्त होकर अलग-अलग रहते हो तब भी दशगात्रादि क्रियाएं एक ही करेगा तथा वार्षिक श्राद्ध इच्छानुसार सभी अलग-अलग कर सकते हैं। दाहकर्त्ता पुत्र मृत्यु के दिन एक समय भोजन, भूमि पर शयन, ब्रह्मचर्य का पालन तथा पवित्रता से रहे। सौ बार सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा करने का फल पुत्र को मात्र माता-पिता की श्राद्धादि क्रियाएं करने से प्राप्त हो जाता है।

इस कृत्य के लिए कुआँ, तालाब, उद्यान, तीर्थस्थान अथवा देवालय इनमें कहीं भी जाकर मध्यम याम या दूसरे प्रहर (चौबीस घण्टे में आठ याम या प्रहार होते हैं) में स्नान कर पवित्र होकर किसी वृक्ष मूल में (लोक में ऐसा पीपल वृक्ष जो परम्परानुसार क्षेत्रीय लोगों के द्वारा इस कार्य के लिए सुनिश्चित हो) दक्षिणाभिमुख बैठकर वेदी का

निर्माण कर उसे गोबर से लेपित कर वेदी पर पत्ते के ऊपर कुशा से निर्मित एक ब्राह्मण को स्थापित कर उसकी पाद्य, अर्घ आदि सामग्री द्वारा पूजा करके "अतसि पुष्प संकाशं' इत्यादि प्रार्थना कर प्रणाम करें। उसके आगे पिण्ड रखने के लिए कुश तथा कुश पर प्रेत का नाम गोत्र उच्चारणपूर्वक पिण्ड स्थापित करें। वह पिण्ड चावल या जौ के आटे से पकाया गया हो। उस पर केसर, चंदन, भ्रिंगराज पुष्प समर्पित कर धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दक्षिणा समर्पित कर काकान्न, दुग्ध एवं जल के पात्र में रखकर वृद्धिक्रम (प्रथम दिन एक अंजलि, द्वितीय दिन दो अंजलि इस प्रकार दशम दिन दस अंजलि) से जलांजलि देनी चाहिए। यह प्रदान करते समय क्रियाकर्ता अमुक गोत्र अमुक नाम के (सम्बन्ध को जोड़ते हुए) प्रेत को मैं जलान्जलि प्रदान करता हूँ, उसे प्राप्त हो। अन्न, वस्त्र, जल, द्रव्य या कोई वस्तु मृतक के निमित्त दी जाये तथा उस व्यक्ति के नाम के साथ प्रेत शब्द युक्त हो जाने पर थोड़ी भी वस्तु प्रेत के लिए अनंत हो जाती है। अत: प्रथम दिन से सपिण्डिकरण के पूर्व तक मृतक स्त्री अथवा पुरुष हो, उसके साथ प्रेत शब्द अवश्य जोड़ना चाहिए। प्रथम दिन जिस विधि तथा वस्तु से जैसा पिण्ड दिया जाता है उसी विधि, उसी अन्न से वैसा ही

पिण्ड दशाहपर्यन्त प्रतिदिन देना चाहिए। लोक-व्यवहार में अनेक असुविधाओं के कारण प्रतिदिन दशाहपर्यन्त पिण्डदान संभव न हो तो दसवें दिन दस पिण्ड एक साथ दिये जाते हैं।

इस प्रकार दसवें दिन मृतक प्रेत को स्वर्ग प्राप्ति की कामना से अपने सपिण्ड लोगों के साथ तेल एवं उबटन का प्रयोग करेंगे (इसी नियम के अनुपालन में कतिपय क्षेत्रों में सिर पर सरसों की खली एवं स्नान के बाद सरसों का तेल लगाने का भी प्रावधान है।) ततः सपिण्ड के लोग अपने गृह से बाहर जिस किसी नियत स्थान पर नदी, तालाब आदि में स्नान कर अपने साथ दूर्वा एवं धान का लाजा लेकर महिला समूह आगे एवं पुरुष समूह पीछे होकर मृतक के घर पहुँचकर दूर्वा तथा लाजा छिटते हुए बोलते हैं कि दूर्वा के समान तुम्हारे कुल की वृद्धि तथा लाजा के समान विकास हो । उस दिन बंधु-बांधव सपिण्ड के साथ क्षौर (मुण्डन) का विधान है। लोकव्यवहार में उस नियत स्थान जहां पर घण्ट एवं दीपक का विधान प्रथम दिन किया जाता है। उसी स्थान पर सर्वप्रथम महाब्राह्मण के क्षौर पश्चात् मृतक के क्रियाकर्त्ता (पुत्रादि) का क्षौर तत्पश्चात् अन्य पारिवारिक सपिण्डों का क्षौर होता है। किसी-किसी समाज में प्रथम दिन से दस दिन

पर्यन्त किसी ब्राह्मण को मिष्टान्न (मिठाई) खिलाने की प्रथा है । तत: करबद्ध होकर प्रेत की मुक्ति के लिए भगवानन श्रीहरि का ध्यान 'अतसि पुष्प संकाशं' इत्यादि मंत्र से प्रार्थना करते हैं । तत: फिर स्नान कर गृह जाकर गोग्रास खिलाकर स्वयं भोजन करें।[325]

एकादशाह विधि (मध्यमषोडशी) तथा द्वादशाह (उत्तमषोडशी)

अनन्तर दशगात्रपर्यन्त श्राद्ध प्रारम्भ करना चाहिए। मलिनषोऽसी के सोलह पिण्ड सम्पन्न हो जाने पर एकादशाह कृत्य के माध्यम से मध्यमषोऽशी के सोलह पिण्डों का क्रम प्रारम्भ होता है। श्राद्धकर्त्ता को इस दिन प्रात: जलाशय, नदीतट अथवा जहां घटबंध हुआ हो, उस स्थान पर पहुँचकर और्ध्वदैहिक क्रियाएं सम्पन्न करनी चाहिए। एतदर्थ वेदशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को आदरपूर्वक नियंत्रित कर करबद्ध प्रणाम कर प्रेत की मुक्ति के लिए प्रार्थना करें। ब्राह्मण भी अपने नित्य कृत्य संध्या वंदनादि से निवृत्त होकर एकादशाह कृत्य में संलग्न होने की स्थिति में रहे। दशाहपर्यन्त मात्र नाम गोत्र मृतक के साथ प्रेत शब्द बिना मंत्रोच्चारण के सम्पन्न

[325] वही, पृ0 148-156

होता है, किन्तु एकादशाह से उसके जो भी कृत्य सम्पन्न होते हैं, सब मंत्रोच्चारपूर्वक होना चाहिए। मध्यम षोडशी में पन्द्रह पिण्ड देवताओं तथा एक पिण्ड प्रेत के निमित्त अर्थात् कुल सोलह पिण्ड सम्पन्न होते हैं। एतदर्थ सामर्थ्यानुसार विष्णु की स्वर्णमयी, ब्रह्मा की रजतमयी, रुद्र की ताम्रमयी, यमराज की लौहमयी मूर्ति स्थापित कर पश्चित दिशा में विष्णुकलश गंगोदक से परिपूर्ण कर पीतवस्त्र से वेष्टित कर उस पर विष्णु की मूर्ति स्थापित करनी चाहिए। इसी प्रकार पूर्व दिशा में ब्रह्मकलश क्षीरोदक (दूध एवं जल) से परिपूर्ण श्वेतवस्त्र से आवेष्टित कर उस पर ब्रह्मा की मूर्ति, उत्तर में रूद्रकलश मधु एवं घृत से परिपूर्ण रक्त वस्त्र से वेष्टित कर उस पर रुद्र की मूर्ति तथा दक्षिण में यमकलश इन्द्रोदक (वर्षाजल) से परिपूर्ण कृष्णवस्त्र से वेष्टित उस पर यम को स्थापित कर मध्य में मण्डल बनाकर कुश की मूर्ति अपसव्य दक्षिणामुख होकर स्थापित करनी चाहिए। यह कुश की मूर्ति प्रेत की होती है। विष्णु, ब्रह्मा, शिव, यम का वेदमंत्र से तर्पण कर हवन करने के पश्चात् पितृगण के उद्धार के लिए गोदान कर भगवान विष्णु से प्रार्थना करें कि यह गोदान आपकी प्रसन्नता के लिए किया जा रहा है, अत: आप प्रसन्न हों। तिलादि अष्टमहादान आदि मृत्यु के

पूर्व नहीं किया गया है तो शय्यादान के साथ करना चाहिए । निमंत्रित ब्राह्मण के चरणों की वस्त्रादि पूजन सामग्री से पूजा कर उन्हें भोजन कराकर शय्या के ऊपर स्वर्णमयी पुरुष प्रतिमा स्थापि कर सभी उपकरणों से सुसज्जित प्रेत की शय्या उस ब्राह्मण को निर्वेदित करनी चाहिए। इस आशय को व्यक्त करते हुए कि सभी उपकरणों से युक्त प्रेत प्रतिमा के साथ यह प्रेत की शय्या विप्र आपको प्रदान की जा रही है, ऐसा कहकर घर-परिवार वालों को इस शय्या की प्रदक्षिणा एवं प्रणाम करके ब्राह्मण को दान करना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धा से शय्यादान तथा वृतोत्सर्ग (साड़ या बैल छोड़ना) करने से प्रेत की नरकादि से मुक्ति होकर उत्तम गति प्राप्त होती है। वृसोत्सर्ग का वृष प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग प्रकार के बताये गये हैं, जिनमें नील, रक्तनील, नीलपिंग, बभ्रुनील एवं महानील पांच प्रकार के नीलवृष होते हैं। जिनपर विस्तार भय से पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला जा रहा है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि अनेक पुत्र उत्पन्न करने चाहिए जिससे कोई तो पूर्वजों के निमित्त गया में श्राद्ध, गौरीकिन्या (आठ वर्ष की कन्या) का दान तथा नीलवृष का उत्सर्ग करेगा। उसे ही उत्तम पुत्र मानना चाहिए जो ये कृत्य करें अन्यथा सभी पुत्र मल के

समान हैं। वृसोत्सर्ग की अपूर्व महिमा बतायी गयी है जिनपर पर्याप्त प्रकाश डालना संभव नहीं है। तथापि केवल वत्स (बछड़ा) एवं वत्सी (बछिया) दोनों को लाकर वैवाहिक विधान से उनका परस्पर कंकडादिबंध कर रुद्रकुम्भ के जल से अभिसिंचन कर बछड़े के दक्षिण पार्श्व पर त्रिशुल तथा वाम पार्श्व पर चक्र लगाकर वृष रूप में आप धर्म है, ब्रह्म ने आपकी सृष्टि की है तथा आपके उत्सर्ग से हमारे पूर्वजों का भवसागर से उद्धार हो जायेगा। ऐसी प्रार्थना कर दोनों को प्रणाम पर आप प्रेत को मुक्ति प्रदान करें कहकर उन्हें छोड़ देना चाहिए। जो पुत्रवान नहीं है वह जीवनकाल में ही स्वयं भी विशिष्ट निर्धारित पर्वों में यह क्रिया स्वयं के लिए कर सकता है। यह सभी पापों से मुक्तिप्रदान करने वाला है। इस प्रकार वृसोत्सर्ग सम्पन्न कर सपिण्डिकरण से पूर्व मध्यमशोऽषी का श्राद्ध करना चाहिए। इन सोलह पिण्डों में प्रथम पिण्ड विष्णु, द्वितीय शिव, तृतीय यम, चतुर्थ सोम, पंचम हव्यवाट (देवताओं तक हव्य पहुँचाने वाली अग्नि), षष्ठ कव्यवाट (पितरों तक पहुँचाने वाली अग्नि) सप्तम काल, अष्टम रुद्र, नवम पुरुष, दशम प्रेत (मृतक), एकादश विष्णु, द्वादश ब्रह्मा, त्रयोदश पुनः विष्णु, चतुर्दश शिव, पंचदश यमराज तथा षोडश 'तत्पुरुष

के लिए इस प्रकार सोलह पिण्ड की यह मध्यमषो षी तत्वज्ञानियों ने बताया है। तत्पश्चात् बारह महिने के बारह पिण्ड, पाक्षिक, त्रिपाक्षिक, न्यूनषाणमासिक (अपूर्ण छः मास) तथा अपूर्ण वार्षिक इस प्रकार षोडशपिण्ड उत्तमषोऽशी के होते हैं, जिन्हें संभव हो तो चरु (पिण्डपाक) पकाकर एकादशाह के दिन भी सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार ये तीनों षोऽशी के पिण्ड मिलाकर अड़तालीस पिण्ड दिये जाते हैं जिससे मृतक का प्रेतत्व नष्ट होता है तथा मृतक पितृपंक्ति में संयुक्त होने योग्य हो जाता है। पितृपंक्ति में प्रवेश के लिए ये तीनों षोऽश श्राद्ध करने चाहिए। जिस मृतक के ये श्राद्ध सम्पन्न नहीं होते वह प्रेत ही बना रह जाता है। इतना ही नहीं जिनके ये षोऽशीत्रय में गिनाये जाने वाले अड़तालीस पिण्ड प्रे को नहीं दिये जाते उसको स्वयं या किसी अन्य के द्वारा भी प्रदान की गयी वस्तु प्राप्त नहीं होती। इसलिए पुत्र के द्वारा पिता के लिए अथवा पत्नी के द्वारा पति के लिए ये षोऽशत्रिय श्राद्ध अवश्य करने चाहिए तथा ये अनंत फलदायक है। जो पत्नी मृत पति के और्ध्वदैहिक कृत्य छः माह या पाक्षिक श्राद्ध करती है वह सती कही जाती है। इसे ही पतिव्रता कहा जाता है उसका जीवन धन्य है जो मृतपति की इस रूप में भी सेवा करती है। कोई

असावधानीवश आग में जलकर, जल में डुबकर मृत हो जाता तो उसका भी प्रमुख सभी कर्म अधिकारी के द्वारा किये जाने चाहिए। इसी प्रकार सर्पदन्त से मृत्यु होने पर तो वर्षपर्यन्त दोनों पक्षों की पंचमी तिथि को पिष्टमयी (आटा) नागाकृति निर्मित कर सफेद पुष्प, सुगन्धित द्रव्य एवं चंदन सहित धूप, दीप प्रदान कर पूजा करना चाहिए तथा भूमि पर चावल तथा तिल विकीर्ण करना चाहिए। सामर्थ्यानुसार स्वर्णमय नाग एवं गाय ब्राह्मण को दान कर करबद्ध होकर कहना चाहिए कि हे नागराज प्रसन्न हो जाइये। तत्पश्चात् उस मृतक के निमित्त नारायणबलि की क्रिया करनी चाहिए। किसी भी प्रकार की दुर्घटना से मृतव्यक्ति के लिए नारायणबलि अनिवार्य होती है तथा यह विशेष रूप से ध्यान रखने की बात है कि ऐसे मृतव्यक्तियों के लिए एकादशाह क्रिया के पूर्व सर्वप्रथम नारायणबलि करने के पश्चात् ही मध्यमषोऽशी सम्पन्न करनी चाहिए। इससे प्रेत सारे पातकों से मुक्त होकर स्वर्ग की प्राप्ति करता है। इस प्रकार सभी क्रियाएं सम्पन्न करने के पश्चात् वर्षपर्यन्त जल से पूर्ण घट एवं अन्न वर्षपर्यन्त के लिए एक बार अथवा वर्षपर्यन्त प्रतिमास ब्राह्मण को प्रदान किया जाए । यथासंभव एकादशाह के दिन यदि उत्तमषोडशी सम्पन्न हो जाए

तो सूतक की परिपूर्ण निवृत्ति हो जाती है तथा द्वादशाह के दिन सपिण्डन, शय्यादान, पददान तथा अन्य दान किये जाने चाहिए।[326]

सपिण्डिकरण विधि

एकादशाह कृत्य (मध्यमषोऽशी) तथा द्वादशाह (उत्तमषोऽशी) क्रियाएं सम्पन्न होने के पश्चात् सपिण्डिकरण अर्थात् मृतक के साथ प्रेत शब्द हटाकर उसके नाम, गोत्र के साथ सम्बन्ध लगाकर उसके पिण्ड का तीन भाग कर एक-एक भाग क्रमशः पिता, पितामह, प्रपितामह के पिण्डों के साथ सम्मिलित करना ही सपिण्डिकरण है। जिससे मृतात्मा अपने पपितृगण में सम्मिलित हो जाता है। जिस मृतक का पिण्ड शिवस्वरूप पितामह आदि में नहीं सम्मिलित होता उसको पुत्र के द्वारा प्रदान किये गये दान भी प्राप्त नहीं होते। जब तक यह पिण्ड सम्मिलन नहीं हो जाता तब तक पुत्र अशुद्ध रहता है। उसके अशुद्धि की निवृत्ति भी सपिण्डिकरण के बिना नहीं होती। अतः पुत्र के द्वारा सूतकान्त पर सपिण्डन अवश्य करना चाहिए। सभी वर्णों के अशौचान्त को बताते हुए कहा है कि ब्राह्मण की शुद्धि दशाह पर क्षत्रिय की द्वादशाह

[326] वही, पृ0 157-172

तथा वैश्य की पंचदशाह तथा शूद्र की एक मास पर होती है। प्रेत सूतक (मरणाशौच) में सपिण्डों (स्वयं से लेकर पूर्व की छः पीढ़ी अर्थात् सात पीढ़ी) की दस दिन पर शुद्धि स्वयं तथा सकुल्यों (जो इन सात पीढ़ी के पूर्व के हों) की तीन दिन तथा गोत्रजों की शुद्धि शवदाह के पश्चात् स्नान कर लेने मात्र से हो जाती है। चौथी पीढ़ी तक के लोगों को दस दिन का अशौच, पांचवीं पीढ़ी को छः दिन, छठीं पीढ़ी को चार दिन तथा सातवीं पीढ़ी की तीन दिन, आठवीं पीढ़ी को एक दिन, नौवीं पीढ़ी को आधे दिन तथा दसवीं पीढ़ी का तो स्नान मात्र से शुद्धि हो जाती है। देशान्तर गये किसी व्यक्ति जन्म या मृत्यु की सूचना कुल बांधवों को विलम्ब से प्राप्त होती है तो जन्म या मृत्यु की तिथि से उस दिन की अवधि में जितने दिन शेष हैं उतने ही दिन का ही अशौच होता है तथा यदि दस दिन व्यतीत हो जाने पर सूचना मिलने पर मात्र तीन दिन की ही अशुद्धि होगी। यदि कथचिंत एक वर्ष व्यतीत होने पर सूचना प्राप्त हो तो मात्र स्नान से ही शुद्धि हो जाती है। एक सूत लगने के पश्चात् यदि द्वितीय सूतक उपस्थित हो जाए तो सूतक की अवधि को दो भाग करके देखने पर प्रथम सूतक के छः दिन के अंदर मृत्यु होने पर प्रथम सूतक के तिथि पर द्वितीय

सूतक की सारी क्रिया होगी। यदि प्रथम सूतक के अर्धांश के पश्चात् दूसरा सूतक उपस्थित हो तो दूसरे सूतक की तिथि पर प्रथम सूतक की सारी क्रिया होगी तथा द्वितीय सूतक के निवृत्ति पर प्रथम की निवृत्ति होगी।

अशुद्धि की अवधि में किसी को आशीर्वाद, देवपूजन, आगमन पर स्वागत, अभिवंदन, शैय्या पर शयन, दूसरे का स्पर्श, संध्या, दान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, ब्राह्मण भोजन या कोई व्रत नहीं करना चाहिए। अशुद्धि में नित्य, नैमित्तिक या काम्य किसी भी प्रकार का पुण्यकर्म नहीं करना चाहिए। ऐसे नित्यकर्म कर दिये जाने पर सूतक के पूर्व के कृतकर्म का भी फल विनष्ट हो जाता है। ब्रह्मचारी अग्निहोत्री ब्राह्मण, ब्रह्मनिष्ठ योगी एवं राजा को अशुद्धि प्रभावित नहीं करती। भगवान मनु के अनुसार विवाहोत्सव जैसे यज्ञ के सम्पन्न होने पर कोई सूतक आये तो अशौच के पूर्व पकाये हुए अन्न को ग्रहण किया जा सकता है। सूत में अज्ञानवशात् यदि कोई दाता याचक को भिक्षा देता है तो याचक को दोष न होकर दाता दोषग्रस्त हो जाता है। सूतक को छिपाकर जो ब्राह्मण को अन्न दान करता है तथा ब्राह्मण सूतक जानकर उस अन्न को ग्रहण कर लेता है वह दोषी होता है। इसलिए सूतक की शुद्धि

के लिए पिता का विधिवत् सपिण्डन करना चाहिए जिससे पितृगण के साथ पिता पितृलोक प्राप्त करता है। तत्वदर्शी मुनियों ने मृत्यु से 12वें दिन, 45वें दिन, छः महिन या वर्ष पूर्ण होने पर सपिण्डिकरण की बात बतायी है। किन्तु भगवान विष्णु गरुड़ से कहते हैं कि मैंने धर्मशास्त्रों के अनुसार चारों वर्णों का सपिण्डन बारहवें दिन बताया है। कलियुग में धर्मभावना की न्यूनता, मनुष्यों की आयु की क्षीणता एवं शरीर की अस्थिरता (क्षणभंगुरता) इन तीन कारणों से बारहवें दिन सपिण्डिकरण कराना चाहिए। गृहस्थ के परिवार में व्रतबंध आदि संस्कार व्रतों के उद्यापन एवं विवाहादि शुभकार्य सूतक में नहीं हो सकते। अतः सूतक की शीघ्र निवृत्ति ही यथोचित है। सूतक में भिक्षुक भिक्षा ग्रहण नहीं करता। नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य आदि कर्म भी अब तक नहीं हो सकते, जब तक कि मृतक का सपिण्डन नहीं हो जाता। अतः शास्त्रोक्त विधान से सपिण्डन पुत्र को करना चाहिए।

इस दिन पाद्य, अर्घ्य आदि के द्वारा विश्वेदेवों की पूजा कर अपने युग पूर्वजों जिनकी सद्गति न हुयी हो उनकी सद्गति के लिए भूमि में विकीर (पिण्ड की शेष बची सामग्री) ततः वसुस्वरूप पितामह, रुद्र स्वरूप प्रपितामह एवं सूर्य स्वरूप वृद्धप्रपितामह के

क्रम से तीन पिण्ड तथा बनाकर चतुर्थ पिण्ड मृतक पिता का बनाकर चंदन, तुलसी, धूप, दीप नैवेद्य मुखशुद्धि, सुवस्त्र, दक्षिणादि से पिण्डों का पूजन कर मृतक प्रेत के पिण्ड का सुवर्ण शलाका या कुशा से तीन भागकर क्रमशः पितामहादि के पिण्डों में एक-एक भाग अलग- अलग मिला देना चाहिए। इसी प्रकार यदि माता का सपिण्डन हो तो पितामही, प्रपितामही तथा वृद्धप्रपितामही के साथ माता के पिण्ड का सम्मिलन कर सपिण्डिकरण सम्पन्न करना चाहिए। पितामह के रहते हुए पिता की मृत्यु होने पर उसके पिण्ड को प्रपितामह, वृद्धप्रपितामह, परवृद्धप्रपितामह के पिण्ड के साथ प्रेत पिता के पिण्ड का तीन भाग कर पूर्ववत् सम्मिलन करना चाहिए। इसी प्रकार पितामही के जीवित रहते माता की मृत्यु होने पर प्रपितामही, वृद्धप्रपितामही तथा परवृद्धप्रपितामही के पिण्ड के साथ पूर्ववत् सम्मिलन करना चाहिए। पति-पत्नी दोनों का एक साथ दाह संस्कार सम्पन्न होने पर उनके पिण्डों में तृण का अंतर कर पति का पिण्ड पितामहादि के पिण्ड तथा पत्नी का पिण्ड स्वश्रु (सास) आदि के पिण्ड में सम्मिलित करना चाहिए। अनेक पुत्रों के होने पर भी एक ही पुत्र पिता के सपिण्डन के पश्चात् स्नान कर माता का सपिण्डन करें। यदि पति की मृत्यु के दस

दिनों के अंदर पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति की तिथियों पर ही पत्नी का शय्यादान, सपिण्ड आदि कार्य करने चाहिए। वेदमंत्रों से समन्वित स्वधाकार का उच्चारण करते हुए पितृतर्पण करना चाहिए। तत्पश्चात् अतिथि भोजन एवं सत्कार करने से पितृगण, मुनिगण एवं देवगण होते हैं। सपिण्डिकरण कर्म में विप्रचरणों की चंदन, अक्षतादि से पूजन कर यथाशक्ति दान करने से पितृगणादि अक्षय तृप्ति प्राप्त करते हैं, तत्पश्चात् ब्राह्मण को एक वर्षपर्यन्त निर्वाह के लिए घृत, अन्न, सुवर्ण, रजत, गाय, अश्व, गज, रथ, भूमि आदि का यथाशक्ति दान करना चाहिए। तत्पश्चात् स्वास्तिवाचन सहित समग्र पूजन सामग्री से ग्रहों एवं गौरी-गणेश का पूजन करना चाहिए। पुन: आचार्य को संस्कारकर्ता का मंत्रपूर्वक अभिषेक कर उसे रक्षासूत्र बांधकर मंत्र से अभिमंत्रित कर उसके हाथ में अक्षत देना चाहिए। तत: ब्राह्मणों को विविध मिष्टान्नादि से भोजन कराकर उन्हें दक्षिणादि के साथ जल एवं अन्न से परिपूर्ण बारह घड़ों का दान करना चाहिए। क्रमश: चारों वर्णों को जल, अस्त्र, चाबुक, दण्ड का स्पर्श तथा ब्राह्मण भोजन से शुद्धि प्राप्त होती है। जिन वस्त्रों को धारण कर सपिण्डन क्रिया की जाती है उन वस्त्रों को त्यागकर तृप्त पुन: नवीन वस्त्र धारण

कर ब्राह्मण को शय्यादान करनी चाहिए । शय्यादान से इन्द्रादि सभी देव प्रसन्न होते हैं। अतः मृत्यु से पूर्व या पश्चात् शय्यादान अवश्य करना चाहिए। शय्या यथा शक्ति विविध सुखर उपकरणों से युक्त होनी चाहिए। ऐसी शय्या पर स्वर्णमय अथवा कुशमय लक्ष्मी के साथ भगवान विष्णु की प्रतिमा स्थापित कर वस्त्राभूषण, आयुध से युक्त स्त्री के निमित्त शय्यादान में काजल, आलता, कुमकुम, वस्त्र एवं यथाशक्ति आभूषणादि भी दान करना चाहिए। ततः सपत्नीक ब्राह्मण को गंध पुष्पादि से अलंकृत कर कान, अंगुली, कण्ठ के आभूषण से अलंकृत कर पगड़ी, उत्तरीय (चादर), कुर्ता आदि धारण कराकर भगवान विष्णु के आगे शय्या पर विराजमान कर देना चाहिए। ततः पूजन सामग्री से विष्णु-लक्ष्मी, लोकपाल, ग्रह, गौरी-गणेश का पूजन कर उत्तराभिमुख होकर पुष्पांजलि प्रदान करते हुए ब्राह्मण के समक्ष हे विष्णु! जिस प्रकार आप की शय्या क्षीरसागर में स्थिर है उसी प्रकार यह शय्या भी जिसके निमित्त प्रदान की जा रही है, यह शय्या कभी रिक्त न रहें, इस रीति से विप्र एवं विष्णु के प्रतिमा पर पुष्पांजलि प्रदान कर संकल्पपूर्वक ब्राह्मण को उक्त शय्या का दान करें। वह भी किसी व्रतोपदेशक, ब्रह्मवादी, आचार-विचार युक्त गुरु या

ब्राह्मण को यजुर्वेद (7/48) के “कोऽदात इति" इत्यादि मंत्र का उच्चारण करता हुआ शय्या पर विराजमान ब्राह्मण, लक्ष्मी एवं विष्णु इन तीनों की शय्या सहित प्रदक्षिणा करके प्रणामपूर्वक शय्या को हिला देने के पश्चात् विसर्जन कर देना चाहिए। यदि धन वैभव का अभाव न हो तो सभी उपकरणों से युक्त सुंदर आनन्दायक गृह भी ब्राह्मण को दान करें। ताकि वह ब्राह्मण सुखपूर्वक गृह में उस शय्या पर शयन करें। जीवित रहते हुए भी अपने जीवनकाल में विशिष्ट पर्व पूर्णिमादि पर शय्यादान एवं वृसोतसर्ग किया जा सकता है। यह शय्यादान एक ही ब्राह्मण को देना चाहिए, अनेकों को नहीं । अन्यथा इस शय्यादान पर विश्राम, विक्रय एवं दान करने वाले अधोगति प्राप्त करते हैं।

इस पूर्वोक्त विधि से शय्यादान के पश्चात् पददान करना चाहिए। पददान की वस्तुएं छाता, जूता, वस्त्र, मुद्रिका (अंगूठी), कमण्डल, आसन एवं पंचपात्र ये सात वस्तुएं हैं। इसके साथ ही दण्ड, ताम्रपात्र, कच्चा अन्न या पका अन्न, घी एवं द्विजाति के लिए यज्ञोपवीत से पद पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। इस पददान से धार्मिक प्राणी सद्गति को प्राप्त करता है तथा यममार्ग के पथिक बन चुके लोगों को पददान से परलोक यात्रा में सुख प्राप्त होता है। यममार्ग में

तेज धूप पर दाहजनित धूप लगने पर छाता से छाया प्राप्त होती है। वह मार्ग अतिकण्टकाकीर्ण है जिसने जूते का दान किया है वह अश्व पर आरूढ़ होकर सुखपूर्वक यात्रा करता है। इसी प्रकार पददान की इन सभी वस्तुओं की सुविधा परलोक मार्ग की यात्रा में प्राप्त होती है। इस प्रकार सपिण्डन के दिन इन पददानों को सम्पन्न कर अपनी शक्ति के अनुसार बहुसंख्यक ब्राह्मण, बंधु-बांधव एवं स्वपाक (चाण्डाल, डोम) को भोजन करना चाहिए। ततः सपिण्डन के पश्चात् एक वर्ष पूर्ण होने तक प्रतिमास जल से परिपूर्ण घट एवं पिण्ड दिया जा सकता है, क्योंकि यज्ञ, देवपूजन एवं व्रतोद्यापन आदि कर्म एक बार हो जाने के पश्चात् दोबारा होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु प्रेत की असीम तृप्ति हेतु पिण्डादानादि कर्म बार-बार किये जा सकते हैं। इस प्रकार वर्षपर्यन्त के श्राद्धों की विशेष व्यवस्थाएं हैं जो आकरग्रंथों में दृष्टिगोचर होती हैं। इसी प्रकार तीर्थश्राद्ध, गयाश्राद्ध, गजच्छाया कृत श्राद्ध की अपार महिमा बतायी गयी है जिन्हें विस्तार के भय से उल्लिखित नहीं किया जा रहा है। विधिवत पितृश्राद्ध से महापातकों से भी पुत्रों को मुक्ति मिल जाती है। अत: पितृभक्त पुत्र सर्वप्रयत्न से पैतृकश्राद्ध कर्म को भक्तिपूर्वक करके इस लोक में सुख तथा परलोक में

सद्गति प्राप्त करता है। इस प्रकार औौर्ध्वदैहिक कर्म करने वाला पुत्र इच्छानुसार सफलता एवं पुण्य की प्राप्ति करता है तथा पिता की मुक्ति होती है। इस प्रसंग का श्रवण निर्धन व्यक्ति भी करता है तो वह पापमुक्त होकर दान के फल को प्राप्त करता है। जो विधिविधान से शास्त्र में वर्णित एवं शास्त्रीय व्यवस्थानुसार 'औौर्ध्ववैदिक कृत्य करने से पिता अपने वंश में अच्छे सन्तति, पितामह चल- अचल सम्पत्ति तथा प्रपितामह धन तथा वृद्धप्रपितामह पर्याप्त अन्नादि उपभोग्य वस्तुएं प्रदान करते हैं। ये सभी पूर्वोक्त पितृगण तृप्त होने पर पुत्र को वांछित सफलता तथा स्वयं भी धर्ममार्ग से सूखपूर्वक धर्मराज के सदन पहुँचते तथा वहां पहुंचकर धर्मराज की धर्मसभा में आदरपूर्वक बैठाये जाते हैं।[327]

षोडश संस्कारों के विधिवत् विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में संस्कारों की योजना एक विशिष्ट प्रयोजन से की गयी थी। इन संस्कारों के विधि-विधान आदि क्रियाओं में शक्तिशाली मंत्रों के उच्चारण द्वारा संस्कारकर्ता पर ऐसा प्रभाव छोड़ने का प्रयास किया जाता है जिससे उसके मनोभाव में छिपी बुराइयों को दूर कर अच्छाइयों को आत्मसात

[327]**वही, पृ0 173-201**

करने की प्रेरणा मिल सके।